निबन्ध-नवनीत

अर्थात्

स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र के स्फुट

लेखों का संग्रह।

भाग १

प्रकाशक —

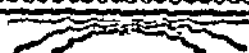
अभ्युदय प्रेस, प्रयाग।



प्रथम संस्करण २,००० | १९१९ | मूल्य ॥)



अभ्युदय प्रेस, प्रयाग, में
बद्रीप्रसाद पाण्डेय के प्रबन्ध से मुद्रित और प्रक



चरित्र-चित्रण

वंश-विवरण ।

पण्डित प्रतापनारायण ने "ब्राह्मण" में अपना चरित लिखना शुरू किया था। आपने उसका नाम रक्खा था "प्रताप-चरित्र"। परन्तु वह पूरा नहीं हुआ। छपा हुआ उसका सिर्फ पहला फार्म, अलग, पुस्तकाकार, खड्गविलास प्रेस बाकीपुर, से हमें मिला है। उसमें प्रतापनारायण ने अपने पूर्वजों का वृत्तान्त लिखा है। उसके अनुसार आप कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के अन्तर्गत बैजेगाव के मिश्र थे। आपका गोत्र कात्यायन था। इसी से आप अपने को "महर्षि कात्यायन कुमार" लिखते थे। इनकी देखादेखी और भी दो एक आदमी अपने को "कात्यायन कुमार" कहने लगे हैं। अवध में एक जिला उनाव है। कानपुर से उनाव (शहर) पाच छ कोस है। बैजेगाव उसी ज़िले में है। उनाव से वह थोडी ही दूर है। प्रतापनारायण के पिता का नाम सङ्कटाप्रसाद, पितामह का रामदयाल और प्रपितामह का सेवकनाथ था। इनके पितामह रामदयाल मिश्र, सुनते हैं, कवि थे। पर उनकी लिखी हुई कविता प्रतापनारायण के देखने में नहीं आई। इनके पिता सङ्कटाप्रसाद अच्छे ज्योतिषी थे। १४ वर्ष की उम्र में वे अपना जन्मग्राम छोडकर, जीविका के लिए, कानपुर आये। यहां, धीरे धीरे, उनकी आर्थिक दशा अच्छी हो गई और

उन्होंने कुछ रियासत भी पैदा कर ली। कुछ दिन तक, गाज़ि-उद्दीन हैदर के समय में, दीवान फतेहचन्द के यहां उन्होंने नौकरी भी की। प्रतापनारायण की चाची कानपुर-निवासी प्रसिद्ध प्रयागनारायण तिवारी के वंश की थी। इस योग के कारण प्रतापनारायण के पिता को कानपुर में रहने में बहुत सुभीता हुआ।

लड़कपन और विद्याभ्यास।

प्रतापनारायण का जन्म आश्विन कृष्ण ९, सं० १९१३, (१८५६ ईसवी) में हुआ था। इनके पिता ज्योतिषी थे। इससे उन्होंने अपने पुत्र प्रतापनारायण को भी ज्योतिर्विद् बनाना चाहा। पर प्रतापनारायण को "आदिनाडी वर हन्ति मध्य-नाडी च कन्यकाम्" वाले मसले पसन्द नहीं आये। इससे लाचार होकर पिता ने उन्हें अंगरेजी मदरसे में भेजा। जिस मदरसे में आपने अंगरेजी का आरम्भ किया उसपर आपकी बहुत दिन तक कृपा नहीं रही। इस कारण पादरियों के मदरसे में आपने पदार्पण किया। वहां उनका और 'आर्मी प्रेस", (कानपुर) के मालिक बाबू सीताराम का साथ हुआ। बाबू सीताराम से मालूम हुआ कि प्रतापनारायण का दिल पढ़ने में न लगता था। इससे वे अपने अध्यापकों के बहुधा कोपभाजन हुआ करते थे। धीरे धीरे उन्हें पढ़ना पीड़ाजनक मालूम होने लगा और अंगरेजी की बहुत ही थोड़ी शिक्षा प्राप्त करके आपने, १८७५ ईसवी के लगभग, स्कूल से अपना पिण्ड छुड़ाया। इसके कुछ दिनों बाद आपके पिता की मृत्यु हुई। इससे इनकी शिक्षा की इकदमही समाप्ति हो गई। स्कूल में इनकी दूसरी भाषा हिन्दी थी। पर इन्होंने उर्दू में

भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। आपने फारसी और संस्कृत में भी कुछ कविता लिखी है। इससे जान पड़ता है कि इन भाषाओं में भी आपकी गति थी। बंगला भी इन्होंने सीख लिया था।

कविता-प्रेम।

जिस जमाने में प्रतापनारायण स्कूल में थे, बाबू हरिश्चन्द्र का "कविवचनसुधा" पत्र एवं उन्नत अवस्था में था। उसमें बहुत ही मनोरञ्जक गद्य पद्य मय लेख निकलते थे। उसे, और बाबू हरिश्चन्द्र की अन्यान्य रचनाओं को भी, पढ़कर प्रतापनारायण की प्रवृत्ति कविता की तरफ हुई। उस समय कानपुर में लावनीबाजों का बड़ा जोर शोर था। बाबू सीताराम कहते हैं कि लावनी गानेवालों की कई जमातें यहां थीं। लावनी का प्रसिद्ध कवि बनारसी भी उस समय अक्सर कानपुर में रहा करता था। वे लोग अक्सर सर्वसाधारण में लावनी गाया करते थे। उनके दो दल इकट्ठे हो जाते थे और लावनी कहने में एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा करते थे। उनमें से कोई कोई आदमी बहुत अच्छी लावनी कहते थे और मौके मौके पर नई लावनी बना भी लेते थे। प्रतापनारायण इन लोगों की जमातों में कभी कभी जाते थे। इसी समय कानपुर के प्रसिद्ध कवि पण्डित ललिताप्रसाद त्रिवेदी के धनुष-यज्ञ का धूम थी। आप राम लीला—विशेष करके धनुष यज्ञ—कराने में बड़े निपुण थे। समयानुकूल अच्छी अच्छी कविता की रचना करके और उसे लीलागत पात्रों के मुह से सुनाकर सुननेवालों के मन को आप मोहित कर लेते थे। प्रतापनारायण भी इस लीला में शामिल होते थ और "ललित"

जी की कविता को पाठ करते थे। हरिश्चन्द्र के लेख पढने, लावनीवालों की लावनी सुनने, और "ललित" जी की लीला में योग देने से, सुनते हैं, प्रतापनारायण की हृदय भूमि में कविता का बीज अच्छी तरह अङ्कुरित हो गया। इसके बाद छन्द शास्त्र के नियम भी शायद उन्होंने "ललित" जी से सीखे। क्योंकि, सुनते है, इस विषय में वे "ललित" जी को अपना गुरु मानते थे।

ब्राह्मण।

प्रतापनारायण को हिन्दी अखबार पढने का लडकपन ही से शौक था। इसी शौक से धीरे धीरे उत्साहित होकर गोपीनाथ खन्ना इत्यादि की मदद से इन्होंने १५ मार्च १८८३ से "ब्राह्मण" नामक एक १२ पृष्ठ का मासिकपत्र निकालना शुरू किया। यह कोई दस वर्ष तक निकलता रहा। पर निकलने में यह बहुत अनियमित था। जन्म होने के थोडे ही दिन बाद इसके निकलने में देरी होने लगी। इस देरी का कारण प्राय पण्डित प्रतापनारायण की बीमारी थी। आप अक्सर बीमार रहा करते थे। विशेष शिकायत आपको बवासीर की थी। १८८७ ईसवी में "ब्राह्मण" कुछ दिनों के लिए बन्द भी होगया था। इनकी मृत्यु के बाद भी "खड्ग-विलास प्रेस" (बाकीपुर) के मालिक, बाबू रामदीनसिंह, ने "ब्राह्मण" को कुछ समय तक जीवित रक्खा। पर वह चला नहीं, बन्द ही हो गया। प्रतापनारायण पर बाबू रामदीनसिंह की विशेष कृपा थी। उनकी बहुत सी पुस्तकों को बाबू साहब ने छापकर प्रकाशित किया है। प्रतापनारायण ने कुछ को

छोड़ कर अपनी सब पुस्तकों का अधिकार बाबू रामदीन सिंह को ही दे दिया था।

"ब्राह्मण" में पण्डित प्रतापनारायण धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी तरह के लेख लिखते थे। यहां तक कि आप खबरें भी छापते थे। कभी कभी कानपुर की बहुत छोटी छोटी खबरें तक भी आप प्रकाशित कर देते थे। "ब्राह्मण" का पहला अङ्क होली के दिनों में निकला था। उसकी प्रस्तावना में प्रतापनारायण ने, उसकी पैदाइश होली को बतलाकर, आगे चलकर, थोड़ी दूर पर होली पर ही एक लेख लिखा। लेख दिल्लगी से भरा हुआ है। पर उसके बीच में जो मत मतान्तर की बातें आ गई हैं, वे जबरदस्ती लाई गई मालूम होती हैं।

"ब्राह्मण" में कैसे लेख निकलते थे इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए कुछ लेखों के नाम हम नीचे देते है—

१। बेगार, २। होली, ३। रिश्वत ४। देशोन्नति, ५। गुप्त ठग (दूकानदार), ६। मुच्छ, ७। कानपुर माहात्म्य (आल्हा), ८। शोकाश्रु (हरिश्चन्द्र के मरने पर कविता), ९। विस्फोटक १०। भारत रोदन (कविता), ११। देशी कपड़ा, १२। प्रेम एव परोधर्म्म, १३। गंगाजी, १४। मानस रहस्य, १५। बन्दरों की सभा, १६। टेढ़ जानि शङ्का सब काहू १७। घूरे के लत्ता बिनैं, कनातन का डौल बाधैं, १८। खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सब के जी ते उतर रहैं, १९। जानै न बूझै, कठौता लैके जूझै, २०। हाथी चले ही जाते हैं कुत्ते भोंका ही करते हैं, इत्यादि।

"ब्राह्मण" के जमाने में हिन्दी की तरफ लोगों का ध्यान नया ही नया गया था। इसमें मासिक पुस्तकों में जैसे लेख होने चाहियें वैसे बहुत कम लेख "ब्राह्मण" में निकले। हमने

इस पत्र के पहले तीन साल के सब अङ्क देख डाले, पर इतिहास, जीवन चरित्र, विज्ञान, पुरातत्व अथवा और किसी मनोरञ्जक या लाभदायक शास्त्रीय विषय पर कोई अच्छे लेख हमें न मिले। इसमें पण्डित प्रतापनारायण का दोष कम था, समय का अधिक।

प्रतापनारायण की हिन्दी खूब मुहावरेदार होती थी। वे अपने लेखों में कहावतें बहुत लिखते थे। पर शब्द-शुद्धि की तरफ उनका खयाल कम था। म्लेच्छ, रिपि, रिपीश्वर, रितु, अहम्त, लेखणी, औगुण, मात्रभाषा आदि व्याकरण विरुद्ध शब्द जगह जगह पर देख पड़ते हैं। सम्भव है ऐसे शब्द सावधानी से प्रूफ न देखने के कारण रह गये हों। या हिन्दी समझ कर प्रतापनारायण ने इन्हें ऐसा ही लिखा हो। 'ब्राह्मण' में हमें कितने ही संस्कृत के वाक्य भी व्याकरण विरुद्ध मिले यथा "अहं पण्डितम्"। "स्वधर्मो निधनं श्रेय"। "का चिन्ता मरणो रणो"। "यथानामस्तथागुणः"। इनको देखकर पण्डित प्रतापनारायण की संस्कृतज्ञता के विषय में शङ्का होने लगती है। पर संस्कृत में भी उन्होंने कविता लिखी है। उनकी एक पुस्तक का नाम है "मन की लहर"। उसमें एक लावनी संस्कृत में है। वह यद्यपि निर्दोष नहीं है तथापि बुरी भी नहीं है। इसी पुस्तक में पण्डित प्रतापनारायण की कुछ फारसी कविता भी है। पर फारसी के अच्छे जाननेवाले ही उसपर अपनी राय दे सकते हैं। १५ मई १८८३ ईसवी के "ब्राह्मण" में एक लेख बेगार पर है। वह अंगरेज़ी में है। पता लगाने से मालूम हुआ कि वह मिशन स्कूल के अध्यापक बाबू नन्हेमल का लिखा हुआ है। प्रतापनारायण ने अपना उपनाम "ईश्वरावलम्बित" रक्खा था और उनके साथी

मास्टर नन्हेमल "सुखदावलम्बित" (?)। "सुखदावलम्बित" जी अभी विद्यमान हैं।

प्रतापनारायण के लेखों में मनोरञ्जकता की मात्रा खूब होती थी। हास्य रस के लाने का जहा पर जरा भी मौका होता था वहां वे उसे हाथ से न जाने देते थे। कभी कभी उर्दू की तरह की अनुप्रासपूर्ण बनावटी इबारत भी आप लिखते थे। इनकी कविता बहुत अच्छी होती थी। कभी कभी ये "ब्राह्मण" की क़ीमत तक, दानग्राही ब्राह्मण की तरह, कविता में माँगते थे। देखिए—

(१)

विज्ञापन।

चार महीने होचुके 'ब्राह्मण" की सुधि लेव।
गंगामाई जै करैं हमैं दक्षिणा देव॥ १ ॥

जो बिन मांगे दीजिये दुहु दिश होय अनन्द।
तुम निश्चिंत हो हम करैं, मागन की सौगंद॥ २ ॥

सदुपदेश नितही करैं,* मागैं भोजन पात्र।
देखहु हम सम दूसरा, कहा दान कर पात्र॥ ३ ॥

तुर्त दान जो करिय तो, होय महा कल्यान।
बहुत बकायें लाभ क्या? समुझ जाव जजमान॥ ४ ॥

रूप राज की कगर पर, जितने होय निशान।
तिते वर्ष सुख सुजस जुत जियत रहो जजमान॥ ५ ॥

---

* "करैं", "हमैं"—प्रयोग याद रखिये।

(२)

हरिगङ्गा।

आठ मास बीते जजमान।
अब तो करो दच्छिना दान॥ हरिगङ्गा
आजु कालिह जो रुपया देव।
मानौ कोटि यज्ञ करि लेव॥ हरिगङ्गा
मांगत हमका लागै लाज।
पै रुपया बिन चलै न काज॥ हरिगङ्गा
तुम अधीन ब्राह्मन के प्रान।
ज्यादा कौन बकै जजमान॥ हरिगङ्गा
जो कहु देहौ बहुत खिझाय।
यह कौनिउं भलमसी आय॥ हरिगङ्गा
सेघादान अकारथ (?) होय।
हिन्दू जानत हैं सब कोय॥ हरिगङ्गा
हँसी खुसी से रुपया देव।
दूध पूत सब हमते लेव॥ हरिगङ्गा
काशी पुन्नि गया मां पुन्नि।
बाबा बैजनाथ मा पुन्नि॥ हरिगङ्गा

प्रतापनारायण के कोई कोई लेख व्यग्य से बेतरह भरे हुए होते थे। उन्होंने एक दफा भड्डुड और फक्कड का किस्सा उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में लिखा था। वह साद्यन्त विकट व्यग्यों से पूर्ण है। हसी दिल्लगी के लेख लिखकर ग्राहकों को रिझाना इन्हें खूब आता था। तिस पर भी लोग "ब्राह्मण" की कीमत वक्त पर न देते थे। बहुतेरे तो देते ही न थे। इससे इनको तग होना पडता था और घाटा भी उठाना

पड़ता था। एक बार बीमारी के बाद बाबू हरिश्चन्द्र के स्नान करने और अन्त में उनके मरने पर इन्होंने अपने पत्र में बहुत अच्छी कविता लिखी थी। अपनी कविता में इन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र की बहुत तारीफ की है। एक जगह आप कहते हैं—

बनारस की जमीं नाज़ा है जिसकी पायबोसी पर।
अदब से जिसके आगे चर्ख़ ने गर्दन झुकाई है॥
वही महताबे हिन्दुस्ता वही गैरतदिहे नैयर।
कि जिसने दिल से हर हिन्दू के तारीकी मिटाई है॥
सब उसके काम ऐसे हैं कि जिनको देख हैरत से।
हर एक आक़िल ने अपनी दांत में उंगली दबाई है॥

भारतजीवन, भारतेन्दु, उचितवक्ता और फतेहगढ़ पञ्च आदि पत्रों और मासिक पुस्तकों से कभी कभी आप छेड़छाड़ भी कर बैठते थे। यदि वे आपकी बात में दख़ल देते थे तो आप उनको जवाब भी ख़ूब देते थे। पण्डित बदरीदीन शुक्ल अकबरपुर (कानपुर) में मदरसों के सब-डेप्युटी इन्सपेक्टर थे। उनकी तरक्की आदि के बारे में आपने, न मालूम क्यों, बार बार "ब्राह्मण" में नोट लिखे हैं। इनके "ब्राह्मण" की एक कापी कानपुर के कलेक्टर के नाम से भी जाती थी।

"हिन्दोस्थान" से सम्बन्ध।

१८८९ ईसवी में प्रतापनारायण कालेकांकर गये और श्रीयुक्त राजा रामपालसिंह के "हिन्दोस्थान" के सम्पादन में सहायता देने के काम पर नियत हुए। परन्तु उनके स्वभाव में स्वच्छन्दता अधिक थी। इस कारण वे बहुत दिनों तक वहां नहीं रह सके। उन्हें वहां से वापस आना पड़ा। उसी समय हिन्दुस्तान के सच्चे शुभचिन्तक ब्राडला साहब इङ्

देश में आये। उनके आने के उपलक्ष्य में पण्डित प्रतापनारायण ने "ब्राडला स्वागत" नाम की एक कविता लिखी। इस कविता का लोगों ने बड़ा आदर किया। इंगलैंड तक में उसकी समालोचना हुई। इस कविता का आरम्भ इस प्रकार है।

स्वागत श्रीयुत ब्राडला, प्रेम प्रतिष्ठा पात्र।
पलक पांवड़े करि रहे, तव हित देशीमात्र॥
स्वागत श्रीयुत चार्ल्स ब्राडला परम पियारे।
स्वागत स्वागत वृटिश-वंश विधु जग उजियारे।

कालेकांकर में इनकी सङ्गति से एक ऐसे सज्जन ने हिन्दी सीखी जिसने खुद देहाती होकर भी, और जिसके बदौलत उसने हिन्दी सीखी उसकी जन्मभूमि देहात में थी, यह जानकर भी, देहातियों ही की सिखलाई हुई हिन्दी में देहातियों की निन्दा करके अच्छा नाम पैदा किया है।

पुस्तक-रचना।

इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं और अनुवादित कीं। जहां तक जाना गया है इनकी अनुवाद की हुई पुस्तकें ये हैं।

१ राजसिंह, २ इन्दिरा, ३ राधारानी, ४ युगलांगुरीय, ५ चरिताष्टक—बंगाल के ८ प्रसिद्ध पुरुषों के चरित, ६ पञ्चामत—पांच प्रसिद्ध देवताओं का अभिमतत्व-निरूपण, ७ नीतिरत्नावली—बंगला की नीतिरत्नमाला का अनुवाद, ८ कथामाला—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद, ९ सङ्गीतशाकुन्तल, १० वर्णपरिचय ३ भाग—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद, ११ सेनवंश—सेन-वंशीय राजाओं का इतिहास, १२ सूबे बंगाल का भूगोल।*

* पहले चार बङ्किम बाबू के उपन्यास हैं।

प्रतापनारायण की लिखी हुई पुस्तकें, जिनके नाम ज्ञात हुए हैं, ये हैं।

१ कलिकौतुक (रूपक), २ कलिप्रभाव (नाटक), ३ हठी हमीर (नाटक), ४ गो सङ्कट (नाटक), ५ जुआरी खुआरी प्रहसन, ६ प्रेम पुष्पावली, ७ मन का लहर, ८ शृङ्गार विलास, ९ दंगल खंड (आल्हा), १० लोकोक्ति शतक, ११ तृप्यन्ताम्, १२ ब्राडला स्वागत, १३ भारतदुर्दशा (रूपक), १४ शैव-सर्वस्व, १५ प्रताप सग्रह, १६ रसखान-शतक, १७ मानस विनोद।

इसके सिवा इन्होंने वर्णमाला, शिशुविज्ञान, और स्वास्थ्य रक्षा नाम की पुस्तकें भी लिखी है। पर हमने इन पुस्तकों को नहीं देखा, इससे हम नहीं कह सकते, ये अनुवाद रूप हैं या इन्हीं की लिखी हुई हैं। शैवसर्वस्व में आपने शिवालय, शिव लिङ्ग-स्थापना और शिवपूजन का समर्थन किया है। "तृप्यन्ताम्" एक विनोदात्मक कविता है, पर उपदेशपूर्ण है। उसमें देशदशा का अच्छा चित्र है। लोकोक्ति शतक भी अच्छी कविता है। उसमें एक एक कहावत पर एक एक पद्य है और हर एक पद्य का अन्तिम चरण स्वयं कोई कहावत है। इनकी कई एक किताबें विहार के शिक्षा विभाग मे, बाबू राम दीनसिंह के प्रयत्न से, जारी हो गई थीं। मालूम नहीं अब वे जारी हैं या नहीं। इनकी एक पुस्तक को मुरादाबाद निवासी पण्डित बलदेवप्रसाद ने प्रकाशित किया है, पर उसका नाम, इस समय, हमें याद नहीं। प्रतापनारायण की पुस्तकों में हम उनके सङ्गीत-शाकुन्तल को सबसे अच्छा समझते हैं। अपनी अन्तिम बीमारी में उन्होंने परमेश्वर की प्रार्थना में कुछ पद्यों की रचना की थी वे भी बहुत सरस, और भक्ति भाव-पूर्ण हैं।

रूप, रङ्ग, आत्मश्लाघा आदि ।

प्रतापनारायण का रंग गोरा था। नाक बहुत बड़ी थी शरीर दुबला था। कमर जवानी ही में झुक गई थी। आप सिर के बाल बड़े बड़े रखते थे और आगे दोनों तरफ काकुलें रखते थे। वे किञ्चित् विलक्षण प्रकार की चेष्टा से कमर झुकाये हुए चलते थे। कदाचित् इनका दुर्बलत्व इसका कारण था। कभी कभी मेले में देखा गया कि पर्दे से ढके हुए इक्के में बैठे स्त्रियों की तरह झाकते हुए, आप चले आ रहे हैं। हम दो दफे इनसे मिले। दोनों दफे हमने इनके लम्बी डाढ़ी देखी। इनको नास सूघने का व्यसन था। इनकी नाक दिन भर नास फाका करती थी। इससे इनकी डाढ़ी और मूछों के बालों पर भी थोड़ा बहुत नास छाया रहता था। शरीर इनका रोग का घर था। आप अपने रूप आदि की तारीफ में कहते हैं—

कौसिक कुल अन्तम श्री, मिश्र सङ्कटादीन।
जिन निज-बुधि विद्या विभव, वश प्रशसित कीन॥ १
तासु तनय "परतापहरि," परम रसिक बुधराज।
सुघररूप, सतकवित बिन, जिहि न रुचत कछु काज॥२
प्रेम-परायन सुजन प्रिय, सहृदय नव रस सिद्ध।
निजता निज भाषा विषय, अभिमानी परसिद्ध॥ ३
श्रीमुख जासु सराहना, कीन्हीं श्रीहरिचन्द।
तासु कलम करतूति लखि, लहै न को आनन्द॥ ४

सङ्गीत शाकुन्तल।

नाटक की प्रस्तावना में कवि का अपने ही मुंह अपनी तारीफ करना अनुचित नहीं। पर, यहां, पण्डित प्रतापनारा-

यण ने मतलब से कुछ जियादह अपनी तारीफ* कर डाली है। ऊपर के अवतरण के आगे भी आपने अपनी तारीफ की है और अपने को "पण्डित वर" लिखा है। "परम रसिक," "सहृदय" और "नवरस-सिद्ध" इत्यादि विशेषण तो ठीक ही हैं। पर "सुघर रूप" में विलक्षणता है।

आत्मश्लाघा को लोगों ने बुरा माना है। यद्यपि संस्कृत के किसी किसी कवि ने आत्मश्लाघा की है, पर कालिदास के सदृश विश्वमान्य कवि ने नम्रता ही दिखलाई है। प्रतापनारायण संस्कृत कवि श्रीहर्ष और जगन्नाथराम के स्कूल के थे। उन्हें अपने को "प्रसिद्ध प्रतापनारायण" लिखे बिना कल ही न पड़ती थी। उनकी किताबों के ऊपर तक "प्रसिद्ध" शब्द विराजमान है। "ब्राह्मण" में कई जगह इन्होंने अपने मुह अपनी और अपने पुस्तकों की बड़ाई की है। अपनी "प्रेमपुष्पावली" के ऊपर आपने एक लेख "ब्राह्मण" में अपनी ही कलम से लिख कर उसकी खूब तारीफ की है।

* पर प्रतापनारायण की आत्मश्लाघा उर्दू के प्रसिद्ध कवि इन्शा अल्ला ख़ा की आत्मश्लाघा के सामने कोई चीज़ नहीं। सैयद साहब ने एक मुशायरे में अपने एक प्रतिपक्षी के जवाब में एक गज़ल कही थी। उसकी कुछ पंक्तियां यों हैं—

एक तिफ़्ल दबिस्ता है फलातू मेरे आगे।
क्या मुंह है अरस्तू जो कर चू मेरे आगे॥
क्या माल भला कस्र फरेदू मेरे आगे।
कांपे है पड़ा गुम्बदे गरदूं मेरे आगे॥
बोले है यही ख़ामा कि किस किस को मैं बांधूं।
बादल से चले आते हैं मज़मूं मेरे आगे॥

हमारी समझ में इन बातों की ज़रूरत न थी। इनके लेख ही इनकी प्रसिद्धि के लिए काफी थे। खुदही अपने को "प्रसिद्ध" लिखने से इनकी प्रसिद्धि शायद ही अधिक हुई हो।

आप कविता में अपना नाम प्रताप, प्रतापहरि, और कभी कभी प्रेमदास देते थे। प्रेम के आप बहुत बडे पूजक थे। इसी से आपने अपने नामों में एक नाम प्रेमदास भी रक्खा था।

स्वभाव।

प्रतापनारायण के स्वभाव में स्वच्छन्दता अधिक थी। ये हमेशा अपने ही रंग में मस्त रहते थे। किसी की परवा इनको न थी। जिन लोगों के साथ ये बैठते उठते थे, अथवा जिनसे इनका मैत्रीभाव था उनके यहां कभी कभी ये दिन दिन भर पडे रहते थे। पर कभी कभी हज़ार मिन्नत आरज़ू करने पर भी उनके यहां ये न जाते थे। ये सर्वथा मनमौजी थे। जब कभी कोई इनकी तबियत के खिलाफ कुछ कह देता या कोई काम कर बैठता तब उसका जरा भी मुलाहज़ा न करके ये उसकी गोशमाली करने लगते थे। इनकी तबियत में जोश था। इससे कभी कभी छोटी छोटी बातों पर भी ये बिगड उठते थे। स्वदेशी चीजों और कपडों पर इनका अधिक प्रेम था। सादापन इन्हें बहुत पसन्द था ये हमेशा सादे कपडे पहनते थे। एक दफा कोट बूट पहने एक महाशय इनसे मिलने आये। उस समय ये बहुत सादी पोशाक में अपनी मित्रमण्डली के बीच बैठे थे। आगन्तुक ने कहा—"हम पण्डित प्रतापनारायण से मिलना चाहते हैं"। यह सुन कर प्रतापनारायण अपनी देहाती बोली में बोल उठे—"भाई उनसे मिलै की खातिर पन्द्रह रुपैया का एकु टिकट लेइ का परत है तब उइ

मिलति हैं"। आपने अपने बैठने के कमरे का नाम रक्खा था "ब्राह्मण-कुटीर"। पर बैठते आप वहा बहुत कम थे। एक दिन जब हम आप से मिलने गये आप वहीं हमको मिले। दीवार पर एक इकतारा टँगा था। हमारे साथ एक और सज्जन थे। उन्होंने उस इकतारे को उठाकर छेड़ना शुरू किया। कोई दो मिनट बाद प्रतापनारायण से न रहा गया। उन्होंने उसे उनके हाथ से छीन लिया। आपने कहा 'यहि तना नहीं बजावा जात"। यह कह कर आप खडे हो गये और उसे बजाते हुए लावनी गाने लगे। हमारे साथी सज्जन ने पूछा—"ब्राह्मण मरि गा कि है?" आपने कहा—"ब्राह्मण अब ना मरी, जी गा। बाबू रामदीनसिंह 'ब्राह्मण' का अमर कै दीन"। हम उनसे दो दफे मिले, पर हमें अफसोस है, एक दफा भी उनसे साहित्य विषयक बातें अच्छी तरह न हुईं। शायद उनकी तबियत उस समय किसी और तरफ रुजू थी।

प्रतापनारायण अव्वल नम्बर के काहिल थे। उनके बैठने की जगह तक में कूडे का ढेर लगा रहता था। अखबार, चिट्ठिया, कागज, बिखरे पडे रहते थे। उनके यहा आने जाने वाले उनके मित्र अगर उन्हें उठाकर जगह को साफ कर देते थे तो कर देते थे। खुद प्रतापनारायण ने शायद ही कभी उनको उठा कर यथास्थान रक्खा हो। लोगों की चिट्ठियो का उत्तर तक ये बहुधा नहीं देते थे। पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र को इन्होंने एक चिट्ठी लिखी थी। उसे "खड्गविलास प्रेस" ने छाप कर प्रकाशित किया है। उसमें, एक जगह, चिट्ठियों का उत्तर न देने के विषय में आप लिखते हैं—"को सारेन का यादुसि मा परै"।

सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विचार।

प्रतापनारायण को सामाजिक बन्धनों की परवा बहुत कम थी। इस विषय में विधि-निषेध-सम्बन्धी जो नियम प्रचलित हैं उनकी पाबन्दी के वे क़ायल न थे। उनका आहार-विहार अनियन्त्रित था। शरीर रक्षा के नियमों का वे अच्छी तरह पालन न करते थे। इसीसे उनका शरीर जवानी ही में मिट्टी हो गया था। और इसीसे उनकी अकाल मृत्यु भी हुई। कवि ही तो ठहरे। कवि स्वभाव ही से उच्छृङ्खल होते हैं।

सामाजिक बन्धनों की तरह धार्मिक बन्धनों के भी वे बहुत अधिक वशीभूत न थे। धर्मान्धता उनमें न थी। आपके सिद्धान्त थे "प्रेम एव परोधर्मः" और "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि"। किसी विरोधी धर्म से उन्हें आन्तरिक घृणा न थी। वे आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, धर्मसमाज, सब कहीं अक्सर चले जाते थे। शायद कुछ दिन तक किसी पादरी को पढ़ाने की नौकरी भी आपने कर ली थी। उन्होंने एक सनातन-हिन्दू धर्मावलम्बी के घर में जन्म लिया था और ऐसे ही धर्मावलम्बी लोगों के साथ वे बैठते उठते भी थे। इसलिए इस धर्म की तरफ उनकी प्रवृत्ति स्वभाव ही से अधिक थी। यह इनके लेखों से जाहिर है। अकेला इनका "शैवसर्वस्व" ही इस बात का पक्का सबूत है। एक दफा कलकत्ते की हाईकोर्ट में किसी जज ने शालग्राम की मूर्ति मंगवाई थी। इस पर प्रतापनारायण बिगड़ उठे थे। आपने कई लेख इस बात के खिलाफ लिखे थे।

कांग्रेस को ये अच्छा समझते थे। उसके ये पक्षपाती थे। एक दफा मदरास और एक दफा इलाहाबाद की कांग्रेस में कानपुर से प्रतिनिधि होकर आप गये भी थे। गोरक्षा के ये बहुत बड़े हिमायती थे। अपनी कई कविताओं में इन्होंने गोरक्षा पर जोर दिया है। सुनते हैं कानपुर में जो इस समय गोशाला है, उसकी स्थापना के लिए प्रयत्न करनेवालों में ये भी थे। एक दफा स्वामी भास्करानन्द के साथ ये कन्नोज गये। वहां गोरक्षा पर इन्होंने एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान में इन्होंने एक लावनी कही। उसका आरम्भ इस प्रकार है--

बां बां करि तृण दाबि दॉन सो दुखित पुकारत गाई है।

इसमें करुणरस का इतना अतिरेक था कि मुसल्मानों तक पर इसका असर हुआ और एक आध कसाइयों ने गो-हत्या से तोबा तक किया।

हरिश्चन्द्र पर भक्ति।

हरिश्चन्द्र पर प्रतापनारायण की अपूर्व भक्ति थी। उनका "कविवचनसुधा" पढ़ते ही पढ़ते हिन्दी पर ये अनुरागशील हुए थे। हरिश्चन्द्र की इन्होंने बहुत तारीफ की है। "ब्राह्मण" में कई जगह मिश्र महाराज ने हरिश्चन्द्र को ऐसे ऐसे विशेषण दिये हैं जो सिर्फ बहुत बड़े बड़े महात्माओं ही को दिये जाते हैं। इन्होंने उनके हाथ तक जोड़े हैं। यह बात, उस समय, किसी किसी को अच्छी नहीं लगी। इससे इन पर आक्षेप भी हुए। आक्षेपों का इन्होंने यथामति उत्तर भी दिया। हरिश्चन्द्र ने जब से प्रतापनारायण की "प्रेमपुष्पावली" की तारीफ की, तब से इनका उत्साह बहुत बढ़ गया। हरिश्चन्द्र की आलोचना गोया इनके सुलेखक और सुकवि होने की

एक शिलालिखित सर्टीफिकेट हो गई। उसका उल्लेख कर के इन्होंने कई दफे अपने ही मुह अपनी तारीफ की। हरिश्चन्द्र के मरने पर इन्होंने "शोकाश्रु" नामक एक विलापात्मक लम्बी कविता "ब्राह्मण" में प्रकाशित की। उसमें इन्होंने बाबू साहब के गुण गाते गाते आकाश पाताल एक कर दिया। हरिश्चन्द्र को इन्होंने "पूज्यपाद" तक कहा है; अपने कई ग्रन्थों के आदि में "हरिश्चन्द्राय नमः" लिखा है। उनके मरने पर इन्होंने "हरिश्चन्द्र सम्वत्" लिखना तक शुरू कर दिया था।

मृत्यु।

इनका शरीर क्या था रोग का चिर-वास्तव्य था। कई दफे ये सख्त बीमार हुए, पर बच गये। सम्वत् १९५१ की आषाढ शुक्ल चतुर्थी, रविवार, (आगस्ट १८९४) इनकी जीवन यात्रा का अन्तिम दिन था। उसी दिन, ३८ वर्ष की उमर में, रात के दस बजे के करीब, इनका शरीरपात हुआ। इनके मरने पर सभी हिन्दी अखबारों ने शोक सूचक लेख लिखे। कविताएँ भी बहुत सी प्रकाशित हुईं। इनके कोई सन्तति नहीं। इनकी विधवा अभीतक विद्यमान है। इनके पूर्वजों के उपार्जित दो तीनमकान कानपुर में हैं। शायद उन्हीं के किराये पर इनका गुजर होता है। मरने के पहले कुछ काल के लिए प्रतापनारायण बांकीपुर चले गये थे। बाबू रामदीनसिंह की इनपर कृपा थी। इसी लिए ये वहा गये थे। जैसा ऊपर लिखा गया है, इनकी प्राय, सभी किताबें खड्गविलास प्रेस के मालिक ही छापते और बेचते हैं। मालूम नहीं उन्होंने पण्डित प्रतापनारायण की विधवा की कुछ मदद की या नहीं।

प्रतिभा, परिहासप्रीति, नाट्य-कौशल आदि ।

कोई कोई कहते हैं कि प्रतापनारायण संस्कृत भी अच्छी जानते थे और फारसी भी । किसी किसी के मुह से हमने सुना है कि वे अरबी तक जानते थे । परन्तु जो लोग उनके पास हमेशा बैठते उठते थे उनका मत है कि वे अरबी नहीं जानते थे। उर्दू में तो वे बहुत अच्छी कविता करते थे। मशायरों तक में जाते थे, दीवाने बिरहमन में उनकी उर्दू कविता संग्रहीत है । संस्कृत में भी उनके नाम से कुछ कविता छपी है और फारसी में भी। पर इस बात की तहकीकात करने की हम कोई जरूरत नहीं देखते कि वे इन भाषाओं में कितनी गति रखते थे । कवि के लिए जिस बात की सबसे अधिक जरूरत होती है वह प्रतिभा है ।और इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतापनारायण में प्रतिभा थी, और थोड़ी नहीं, बहुत थी। विद्वत्ता होने से कविता शक्ति में कोई विशेषता नहीं आ सकती, उलटा हानि चाहे उससे कुछ हो जाय । प्रतापनारायण की कविता में प्रतिभा का प्रमाण अनेक जगह पर मिलता है । उनकी कोई कोई उक्तियां बहुत ही अनोखी और नई हैं। उनकी कविता में विशेष करके हास्यरस का बहुतही अच्छा परिपाक होता था । वे बड़ी शीघ्रता से छन्दोरचना कर सकते थे। जैसा पहले कहा गया है, कानपुर में बहुधा लावनीबाजों के दो दलों में लावनीबाजी हुआ करती थी। कभी एक दलवाले उनको अपनी तरफ बिठा लेते थे और उस दल के इच्छानुसार, विरोधीदल का गाना समाप्त होते होते, वे नई लावनी तैयार कर देते थे । कभी दूसरे दलवाले

भी ऐसा ही करते थे। कई दफे उन्होंने नाटक भी खेला था। उसमें उन्होंने अपनी हास्यमयी कविता से दर्शकों को खूब ही हँसाया था। फागुन में इकतारा लेकर वे उपदेशपूर्ण, पर हास्यजनक, होली, कबीर और पद आदि गाते थे। वे बहुत जल्द कविता करते थे। यथासमय कविता बनाकर लोगों को वे मोहित कर देते थे। एक दफा एक साधु ने यह पद गाया- "तजहु मन हरि-विमुखन को संग। जिनकी संगति सदा पाय के परत भजन में भंग"। प्रतापनारायण ने इस पूरे पद के मतलब को बिलकुल ही उलट कर इस तरह गाया— "तजहु मन हरिभक्तन को संग। जिनकी संगति सदा पाय के होत रंग में भंग"। इसी तरह सारे पद के अर्थ को उन्होंने बदल दिया। ये पूरे मसखरे थे।

यदि पण्डित प्रतापनारायण मिश्र की जीवनी में यह न लिखा जाय कि वे बड़े ही दिल्लगीबाज और किसी अंश में फक्कड़ थे, तो वह जीवनी अवश्य ही अपूर्ण समझी जायगी। एक बार नाटक में उनको स्त्री का रूप लेना था। इसलिए मूछों का मुड़वाना जरूरी था। आप बड़े भक्ति-भाव से अपने पिता के सामने हाजिर हुए और बोले, "यदि आज्ञा दीजिये तो इनको मुंडवा डालूं। इनका मुंडवाना जरूरी है। परन्तु मैं अनाज्ञाकारी नहीं बनना चाहता"। पिता ने हँसकर आज्ञा दे दी।

पण्डित प्रतापनारायण नाटक खेलने के विशेष प्रेमी थे और जब जब वे नाटक खेले तब तब उनके चातुर्य की प्रशंसा हुई। एक बार उन्होंने "उर्दू बीबी" का पार्ट लिया था। उस समय उनके और मुसलमान वेश्या के वेश में कोई अन्तर न था। दर्शकों में बैठी हुई एक प्रसिद्ध वेश्या से "बुआ सलाम"

कह कर उन्होंने सलाम किया तो वह सहसा बोल उठी "बेटी जीती रह" !

प्रतापनारायण जी बाजारों में धर्मशिक्षा देनेवाले पादरियों से बहुत उलझा करते थे। और उनको खूब छकाते थे। उनकी तर्कशक्ति खूब प्रबल थी। एक बार आप कह बैठे कि दुनिया की प्रथमपुस्तक कोकशास्त्र है। पादरी के प्रश्न पर आपने इस शास्त्र के सिद्धान्तों का परिचय देकर बहुत से सामान्य धर्म, कर्म, उसीके अन्दर कह सुनाये। यह सब सुनकर पादरी साहब बहुत ही छके।

एक दिल्लगी और सुनिए। एक दिन पादरी साहब में और उनसे इस तरह बातचीत हुई—

पादरी—आप गाय को माता कहते हैं ?

प्रताप०—जी हां।

पादरी—तो बैल को आप चचा कहेंगे ?

प्रताप०—बेशक—रिश्ते मे क्या इनकार है ?

पादरी—हमने ता एक दिन अपनी आंख से एक बैल को मैला खाते देखा था।

प्रताप०—अजी साहब, वह बैल ईसाई हो गया होगा ! हिन्दूसमाज में ऐसे भी बैल होते हैं !!!

पादरी साहब चुप हो रहे, कहते ही क्या ?

एक बार कानपुर की म्यूनीसिपालिटी में इस बात पर विचार हो रहा था कि भैरवघाट में मुर्दे बहाये जांय या नहीं। (गङ्गाजी का प्रवाह उस घाट से कानपुर की बस्ती की ओर है), तरह तरह के प्रस्ताव होते होते किसी ने कहा कि जले हुए मुर्दे की पिण्डी यदि इतने इंच से अधिक न हो तो बहाया

जाय। दर्शकों में प्रतापनारायण भी उपस्थित थे। आप खड़े होकर बोल उठे—"अरे दैया रे दैया! मरेउ पर छाती नापी जाई"!

सुनते हैं ये सांस बन्द करके घन्टों तक मुर्दा से पड़े रहते थे। जिस अङ्ग को चाहते थे (यथा एक कान या दोनों) उसे ये यथेच्छ हिलाते या फरकाते थे। ऐसा करने में और अङ्ग स्थिर रहते थे। इनसे किसी किसी का मत है कि ये योगविद्या जानते थे। पर प्रतापनारायण के ऐसे आहार-विहार करनेवाले का योगी होना कुछ असम्भव सा जान पड़ता है।

निदान प्रतापनारायण स्वतन्त्र थे, फक्कड़ थे, हिन्दी और हिन्दुस्तान और कांग्रेस के परम भक्त थे, अच्छे कवि, लेखक और उत्साही थे, प्रारब्ध ने इनको अधिक नहीं जीने दिया, नहीं तो इनसे समाज को अनेक लाभ पहुंचने की आशा थी।

हिन्दी की हिमायत।

यह कहने की जरूरत नहीं कि ये हिन्दी के बहुत बड़े हिमायती थे। हिन्दी के पक्ष में इन्होंने "ब्राह्मण" में बहुत दफे अच्छे अच्छे लेख लिखे एक दफा "फतेहगढ़-पंच" ने इनकी हिमायत के खिलाफ कुछ लिखा और हिन्दी में दोषोद्भावना की। इस पर प्रतापनारायण जामे से बाहर हो गये। आपने "पंच" की दलीलों का बड़ी ही योग्यता से खण्डन किया। कई महीने तक यह विवाद जारी रहा और प्रतापनारायण "पंच" की बे-सिर पैर की बातों की असारता दिखलाते रहे। हिन्दी के विषय में आपका उपदेश यह था—

चहहु जु साची निज कल्यान।
तो सब मिलि भारत-सन्तान॥
जपो निरन्तर एक जबान।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥ १॥
तबहि सुधरिहै जन्म निदान।
तबहि भलो करिहैं भगवान॥
जब रहिहै निशिदिन यह ध्यान।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान॥ २॥

इससे इनका देशाभिमान भी सिद्ध होता है।

कविता के नमूने।

पंडित प्रतापनारायण की कविता के कुछ नमूने देकर हम इस लेख को पूरा करना चाहते हैं—

प्राटला-स्वागत।

नोन, तेल, लकडी, घासहु पर टिकस लगै जह।
चना, चिरौंजी मोल मिलै जहं दीन प्रजा कह॥
जहां कृपी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माहीं।
देशिन के हित कछू तत्व कहु कैसहु नाहीं॥ १॥
कहिय कहा लगि नृपति दबे हैं जह ऋन भारन।
तह तिनकी धनकथा, कौन जो गृही सधारन॥
जे अनुशासन करन हेत इत पठये जाहीं।
ते वसुधा बिन काज प्रजा सों मिलत लजाहीं॥ २॥

लोकोक्ति शतक।

छोड़ि नागरी सुगुण आगरी उर्दू के रंग राते।
देशी वस्तु विहाय विदेशिन सो सर्वस्व ठगाते॥

मूरख हिन्दू कस न लहैं दुग जिनकर यह ढग दीठा।
"घर की खाड खुरखुरी लागै चोरी का गुड मीठा॥ १॥

नहि सीखत सद्गुण करि नेम।
निज हठ तजि न प्रचारत प्रेम॥
परदेशिन सेवत अनुरागे।
"सब फल खाय धतूरन लागे" ॥ २॥

तृप्यन्ताम्।

केहि विधि वैदिक कर्म होत कब।
काहा बखानत ऋक, यजु, साम॥
हम सपनेहु में नहिं जानें।
रहैं पेट के बने गुलाम॥
तुमहिं लजावत जगत जनम लै।
दुहु लोकन में निपट निकाम॥
कहैं कौन मुख लाय हाय फिर।
ब्रह्मा बाबा तृप्यन्ताम्॥ १॥
देख तुम्हारे फ़रज़न्दों का।
सीरो-तरीक तुआमो कलाम॥
ख़िदमत कैसे करें तुम्हारी।
अक्ल नहीं कुछ करती काम॥
आवे गङ्ग नज़र गुज़राणू।
था कि मये गुलगू का जाम॥
मुंशी चितरगुपत साहब।
तसलीम कहूं या तिरपिताम॥ २॥

इन नमूनों से प्रतापनारायण का स्वदेश और स्व-भाषा सम्बन्धी प्रेम टपका पडता है। स्वदेश दशा का चित्र भी इनमें अच्छा देख पड़ता है।

फुटकर कविता ।

अपने लेखों और चिट्ठियों में ये कभी कभी बैसवारे की अपनी ठेट देहाती बोली के वाक्य लिख दिया करते थे। उन में अपूर्व रस भरा रहता था। इस तरह की देहाती बोली में इन्होंने कुछ कविता भी की है। ऐसी कविता का एक नमूना सुनिए। एक वृद्ध आदमी अपनी दशा का वर्णन करता है—

हाय बुढ़ापा तोरे मारे
अबतो हम नकन्याय गयन।
करत धरत कुछु बनतै नाहीं
कहा जान औ कैस करन।
छिन भरि चटक छिनै मा मद्धिम
जस बुभात खन होय दिया।
तैसे निखरख देखि परत है
हमरी अक्किल के लच्छन ॥१॥

अस कुछु उतरि जाति है जी ते
बाजी बेरिया बाजी बात।
कैस्यो सुधिही नाहीं आवति
मूड़ुइ काहे न दे मारन।
कहा चही कुछु निकरत कुछु है
जीभ रांड का है यहु हालु।
कोऊ याकी बात न समुझै
चाहै बीसन दांय कहन ॥ २ ॥

दाढ़ी नाक याक मा मिलि गै
बिन दांतन मुहुँ अस पोपलान।

दहिही पर यहि यहि आवति है
कर्यों समाखू औ फांकन ।
वार पाकि गे रीरौ झुकि गै
मूंडी लासुर हालन लाग ।
हाथ पाव कुछु रहे न आपनि
केहिके आगे दुखु रवावन ॥ ३ ॥

यही लगुठिया के बूते अब
जस तस डोलित डालित है ।
जैहिका लै कै सब कामेन मा
सदा खखारत फिरत रहन ।
जियत रहैं महराज सदा जो
हम पेस्यन का पालति हैं ।
नाहीं तो अब को धौं पूछै
केहि के कौने काम के हन ॥ ४ ॥

इस कविता में बुढापे का बहुत ही अच्छा फ़ोटो है। कविता खूब सरस है। पर हमें डर है कि जो इस बोली को अच्छी तरह नहीं जानते वे इसका पूरा मजा न पावेंगे। जिन लोगों का यह खयाल है कि किसी विशेष प्रकार की भाषा या बोली में ही अच्छी और सरस कविता हो सकती है, वे देखें कि महा गवारी बोली में भी रसवती कविता हो सकती है। पर, हां, कवि प्रतिभावान् होना चाहिये। प्रतापनारायण ने आल्हा तक में कविता की है और वह भी सरस और हृदयहारिणी है। कानपुर के दंगल पर उन्होंने एक पुस्तक ही लिख डाली है। इस पुस्तक में आदि से अन्त तक आल्हा ही है। इसके सिवा, कानपुर पर भी, आल्हा छन्द में आपने

कविता की है। इस पिछली कविता का गोरक्षाविषयक एक नमूना देखिए—

गैया माता तुमका सुमिरौं, कीरत सबते बडी तुम्हारि।
करौ पालना तुम लरिकन कै, पुरिखन बैतरनी देउ तारि।
तुम्हरे दूध दही की महिमा, जानैं देव पितर सब कोय।
को अस तुम बिन दूसर जेहिका, गोबर लगे पवित्तर होय॥१
जिनके लरिका खेती करिकै, पालैं मनइन के परिवार।
ऐसी गाइन की रछ्या मां, जो कुछु जतन करौ सो थवार।
घास के बदले दूध पियावैं, मरि कै देंय हाड औ चाम।
धनि यह तन मन धन जो आवै, ऐसी जगदम्बा के काम॥२
आल्हाखण्ड की पोथी लै कै, धाखौ तनुक लिखा कस आय।
"जहा रोसैया है ऊदन कै, भुरवा मुगुल पछारैं गाय"।
को अस हिन्दू ते पैदा है, जो अस हालु देखि एक साथ।
रकत के आसन रोय न उठिहै, माथे पटकि तुहत्या हाथ॥३
सब दुख सुख तौ जैसे तैसे, गाइब की नहिं सुनै गुहार।
जब सुधि आवै मोहिं गैयन की, नैनन बहै रकत की धार।
हियां की बातैं तौ हियमैं रहिं, अब कम्पू के सुनौ हवाल।
जहां के हिन्दू तन मन धन ते, निसदिन करैं धरम प्रतिपाल॥४

प्रतापनारायण के आल्हा का नमूना आप देख चुके। अब उनकी भक्ति रस में सराबोर कविता का एक उदाहरण लीजिए—

आगे रहे गनिका गज गीध सुतौ अब कोऊ विख्यात नहीं हैं।
पापपरायन ताप भरे परताप समान न आन कहीं हैं।
हे सुखदायक प्रेमनिधे जग यों तो भले औ बुरे सब ही हैं।
दीनदयाल औ दीन प्रभो तुम से तुमहीं हमसे हमहीं हैं॥१

इस पद्य की हम तारीफ नहीं कर सकते। सरस कविता का यह बहुत ही अच्छा नमूना है।

उर्दू कविता।

अब इनकी थोड़ी सी उर्दू कविता सुनिए। यह कविता एक तरह के समस्यासमूह की पूर्ति है। इसमें पहली पंक्ति इनकी है, दूसरी और किसी की। पर, मेल दोनों का खूब मिल गया है—

गजल।

वो बद खू राह क्या जाने वफा की।
'अगर गफलत से बाज़ आया जफा की' ॥ १
न मारी गाय गोचारन किया बन्द।
'तलाफ़ी की जो जालिम ने तो क्या की' ॥ २
मियां आये हैं बेगारी पकड़ने।
'कहे देती है शोखी नकशे पा की'। ३
पुलिस ने और बदकारों को शह दी।
'मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की ॥ ४
जो काफिर कर गया मन्दिर में बिदअत।
'वो जाता है दुहाई है खुदा की' ॥ ५
शबे कतलागरे के हिन्दुओं पर।
'हकीकत खुल गई रोजे जजा की' ॥ ६
खबर हाकिम को दें इस फिक्र में हाय।
'घटा की रात और हसरत बढ़ा की' ॥ ७
कहा अब हम मरे साहब कलक्टर।
'कहा मैं क्या करूं मरजी खुदा की' ॥ ८

जमीं पर किसके हो हिन्दू रहें अब।
'खबर ला दे कोई तहतुस्सरा* की' ॥ ८
कोई पूछे तो हिन्दुस्तानियों से।
"कि तुमने किस तवका पर वफा की' ॥
वसे मोमिन न समझो ऐ बरहमन।
'सताये जो कोई खिलकत खुदा की' ॥ ११

यह १५ दिसम्बर १८८३ के "ब्राह्मण" में प्रकाशित हुई थी। उस समय गोरक्षा विषयक खूब चर्चा चल रही थी। आगरे में हिन्दू मुसलमानों के बीच झगडा भी उसी दरमियान में हुआ था। बेगारी पकडने के विषय में भी "ब्राह्मण" में कई लेख निकले थे। इन्हीं बातों को लक्ष्य करके "बरहमन" साहब ने यह गजल गाई थी। उर्दू में आप अपना तखल्लुस "बरहमन" लिखते थे। इसी तरह की एक और कविता सुन लीजिए—

विवादी बढ़े हैं यहां कैसे कैसे।
'कलाम आते हैं दरमियां कैसे कैसे' ॥ १
जहां देखिए म्लेच्छ सेना के हाथों।
'मिटे नामियों के निशां कैसे कैसे' ॥ २
बने पढ़ के गौरंड भाषा द्विजाती।
'मुरीदाने पीरे मुगां कैसे कैसे' ॥ ३
बसो मूरतें देवि आर्यों के जी में।
'तुम्हारे लिए हैं मकां कैसे कैसे' ॥ ४
अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा।
'हमारे भी हैं मिहरवां कैसे कैसे' ॥ ५

* तहतुस्सरा = पाताल।

न आई दया • • गो मक्खियों को।
'तड़पते रहे नीमजां कैसे कैसे' ॥ ६
विधाता ने यां मक्खियां मारने को।
'बनाये हैं खुशरू जवां कैसे कैसे' ॥ ७
अभी देखिए क्या दशा देश की हो।
'बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे' ॥ ८
हैं निर्गन्ध इस भारती वाटिका के।
'गुलो लाल ओ अरगवां कैसे कैसे' ॥ ९
हमें वह दुखद हाय भूला है जिसने।
'तवाना किये नातवां कैसे कैसे' ॥ १०
प्रताप अपनी (अब तो ?) होटल में निर्लज्जता के।
'मज़े लूटती है जवां कैसे कैसे ॥ ११

शृङ्गार-रस की कविता।

कानपुर के कवियों ने जो "रसिकसमाज" नाम का कविसमाज स्थापित किया था, उसके प्रतापनारायण जी बड़े उत्साही मेम्बर थे। जब तक वह उनके सामने चला उसमें प्राय: समस्यापूर्त्ति ही का उद्योग रहा। रसिकवाटिका * नाम की पुस्तक की एक जिल्द में इस समाज के काव्यकलाप के साथ प्रतापनारायण की जो कविता छपी है, उससे हम उनके कुछ छन्द चुनकर पाठकों की भेंट करते हैं। प्रतापना

---

* जब सन् १८६७ ई० में कानपुर में कविसमाज की स्थापना की गई, तब स्वर्गीय प्रतापनारायण जी की रुचि पर ध्यान रख कर ही उसका नाम "रसिकसमाज" और उसकी पत्रिका का नाम "रसिक-वाटिका" रक्खा गया।

तायण भी शृङ्गाररस के प्रेमी थे। ये उदाहरण भी उसी रस के हैं।

(पपिहा जब पूछिहैं पीव कहाँ)

बन बैठी है मान की मूरति सी
मुख खोलति बोलै न नाहिं न हां।
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे
सखियान की कौन चलाई कहां।
बरखा है प्रतापजू धीर धरो
अब लौं मन को समुझायो जहां।
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू
पपिहा जब पूछिहै पीव कहा ॥ १ ॥

(बीर बली धुरवा धमकावैं)

बूड़ि मरैं न समुद्र में हाय
ये नाहक हाय निछौहे डुबावैं।
का तजि लाज गराज किये
मुख कारो किये इतही उत धावैं।
मारि दुखारिन पै बज मारे
वृथा बुंदियान के बान चलावैं।
बीर हैं तौ बल बीरहि आय कै
बीर बली धुरवा धमकावैं ॥ २ ॥

(बजनी घुघुरू रजनी उजियारी)

आसव छाकि छुली छतिपैं
खुलि खेलति जोबन की मतवारी।
गात ही गात अदा ही अदा
कहै बात ही बात सुधा सुखकारी।

रंग रचै रस राग अलापि
नचै परताप गरे भुज डारी।
ताछिन छावै अजीब मजा
बजनी घुघुरू रजनी उजियारी ॥ ३ ॥

(देह धरे को यहै फल भाई)

नैनन में बसै सावरो रूप
रहै मुख नाम सदा सुखदाई।
त्यों श्रुति में ब्रज केलिकथा
परिपूरण प्रेम प्रताप बडाई।
कोऊ कछू कहै होय कहूँ कछु
पै जिय में परवाहि न लाई।
नेह निभै नदनन्दन सों नर-
देह धरे को यहै फल भाई ॥ ४ ॥

(धुरवान की धावन सावन में)

सिर चोटी गुथावतीं फूलन सों
मेंहदी रचि हाथन पावन में।
परताप त्यों चूनरी सूही सजी
मन मोहती हावन भावन में।
निस घोस बितावती पीतम के संग
झूलन में औ झुलावन में।
उनहीं को सुहावन लागत है
धुरवान की धावन सावन में ॥ ५ ॥

शकुन्तला।

पण्डित प्रतापनारायण ने शकुन्तला का जो अनुवाद हिन्दी में किया है वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता, हा खतन्त्र या स्वच्छन्द अनुवाद कहा जा सकता है। मूल के

र्वों को इन्होंने अनुवाद में बहुत कुछ घटा बढ़ा दिया है। बात को इन्होंने भूमिका में स्वीकार किया है। ऐसा करने अगर कहीं की मूल कहीं मज़ा जाता रहा है तो कहीं कहीं धिक भी हो गया है। हम यह नहीं कह सकते कि यह नुवाद सब कहीं अच्छा ही हुआ है, पर इसका अधिक अंश चक, रसवान् और मनोहर है। इस अनुवाद का एक मूना देकर हम 'प्रेमदास' 'प्रतापहरि' से विदा होंगे—

चौथे अङ्क की बात है। कएव प्रवास से वापस आ गये । उनकी आज्ञा से उनका शिष्य, यह देखने के लिए कुटी बाहर निकला है कि कितनी रात बाकी है। इधर उधर खने पर उसे मालूम हुआ कि प्रात काल हो गया। तब वह हता है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥१॥
अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ २ ॥

भावार्थ। जिन ओषधियों का सेवन बड़े बड़े भयङ्कर रोगों का—नहीं, मृत्यु तक का—नाश कर सकता है उन्हीं का स्वामी, चन्द्रमा, एक तरफ, अस्त हो रहा है। दूसरी तरफ जिसके जङ्घायें (रानें) तक नहीं ऐसे अनूरु सारथी को रथ के आगे बिठला कर सूर्य उदित हो रहा है। इस प्रकार एक ही साथ, दो तेजस्वी पिंडों की सम्पदा और विपदा को दिखलाकर, अपनी अपनी अवस्था विशेष में, मनुष्यों का मानों नियमन किया जारहा है। अर्थात् सम्पत्ति और विपत्ति के समय किसी को भी हर्ष या विषाद करना उचित नहीं ॥१॥ जो कुमुदिनी अपनी प्रफुल्लित अवस्था में परम शोभामयी थी वही, चन्द्रमा

के अस्त हो जाने पर, मेरी आँखों को अच्छी नहीं लगती अब उसमें उसकी पहली शोभा नहीं रही। उस शोभा का अ स्मरणमात्र शेष है, वह दिखाई नहीं देती। सच है, अपने प्रिय तम के प्रवासी होने के कारण उत्पन्न हुआ दुःख अबलाओं को अत्यन्त दुःसह होता है।

प्रतापनारायण ने इसका अनुवाद नहीं किया। सिर्फ इसकी छाया लेकर उन्होंने जो कविता लिखी है वह इस प्रकार है—

प्रभावती।

कैसी कमनीय है प्रभा प्रभातकाल की।
दिनकर करि इत उजास, इत लहि ससि तेज नास,
कै रहे दसाप्रकास मानो जग-जाल की।
कुमुदिनि सोभा-विहीन, विरहिनि इव दुखित दीन,
लागति नैनन मलीन, देखत दिसि लाल की।
दरस की कुटीन त्यागि, उठहि मोर जागि जागि,
वेदिन ढिग लागि लागि पैंडनि सुगमाल की।
इहि छिन सब साधु सन्त, प्रेम-पूरि है इकन्त,
सुमिरत महिमा अनन्त त्रिभुवन महिपाल की ॥१॥

दोहा।

तो हमहू गुरु देव सों करें निवेदन जाय।
नाथ होम बेला भई अरुन उदित दरसाय ॥ ३ ॥
बदरि बिरिछ के पात पै ओस-बुंद छबि छाय।
कैसी लगति सुहावनी अरुन उदय दुति पाय ॥ ४ ॥

सवैया।

सोई निसापति जो गिरि मेरु पै पांव धरे विचरै निसि माहीं।
त्यों तम तोमहि नासत जासु मरीचिका श्रीहरि-धाम लौं जाहीं।

तेज गवाय गिरै नभ ते सोउ भोर, समै पुषि कै रवि पाहीं ।
या जग माहि बडेहु बडेन की दीसत है थिर सपति नाहीं ॥५॥

प्रतापनारायण का अनुवाद इसी तरह का है। इसीसे उसकी योग्यता का अन्दाजा पाठक कर सकते हैं। पिछला सवैया अपूर्व है, याद रखने लायक है, शिक्षा ग्रहण करने लायक है।

लिख चुकने पर यह लेख हमने उन सज्जनों को दिखलाया जो प्रतापनारायण से अच्छी तरह परिचित हैं, और जो उनके पास हमेशा बैठा उठा करते थे। उनकी राय से, जहां कहीं संशोधन की जरूरत समझी गई वहां हमने इसमें संशोधन कर दिया। इस पर भी यदि कोई बात भ्रम से ऐसी लिख गई हो जो ठीक न हो तो पाठक क्षमा करें। इस संशोधन कार्य में हमें अपने माननीय मित्र राय देवीप्रसाद, बी० ए०, बी० एल०, से बहुत मदद मिली है। इसलिए हम उनके कृतज्ञ हैं।*

"सरस्वती" से उद्धृत।

---

* इस लेख को पुस्तक में सम्मिलित कर लेने की अनुमति प्रदान करने के लिए हम इंडियन प्रेस के स्वामी के अत्यन्त अनुगृहीत हैं।
प्रकाशक।

लेख-सूची ।

निबन्ध-नवनीत।

प्रथम परिच्छेद।

साहित्यिक अंश।

आप।

ले भला बतलाइए तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह आप तो आपही हैं। यह कहां की आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है? पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप ब्राह्मण संपादक हैं, अथवा आप पंडितजी हैं, आप राजाजी हैं, आप सेठजी हैं, आप लालाजी हैं, आप बाबू साहब हैं, आप मियां साहब, आप निरे साहब हैं। आप क्या हैं? यह तो कोई प्रश्न की रीति ही नहीं है। वाचक महाशय! यह हम भी जानते हैं कि आप आप ही हैं, और हम भी वही हैं, तथा इन साहबों की भी लंबी धोती, चमकीली पोशाक, सुंदिहई अंगरखी, (मीरजई) सीधी मांग, विलायती चाल, लम्बी दाढ़ी और साहबानी हवस ही कहे देती है कि—

"किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए,"

अच्छा साहब, फिर हमने पूछा तो क्यों पूछा ? इसी लिए कि देखें आप "आप" का ज्ञान रखते हैं वा नहीं ? जिस 'आप' को आप अपने लिए तथा औरों के प्रति दिन रात मुंह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या है ? इसके उत्तर में आप कहिएगा कि एक सर्वनाम है। जैसे मैं, तू, हम, तुम, यह, वह आदि हैं वैसे ही आप भी है, और क्या है। पर इतना कह देने से न हमीं सतुष्ट होंगे न आपही के शब्दशास्त्र ज्ञान का परिचय होगा, इससे अच्छे प्रकार कहिए कि जैसे 'मैं' का शब्द अपनी नम्रता दिखलाने के लिए बिल्ली की बोली का अनुकरण है, 'तू' का शब्द मध्यम पुरुष की तुच्छता व प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सम्बोधन की नकल है। हम तुम संस्कृत के अहं त्वं का अपभ्रंश हैं, यह वह निकट और दूर की वस्तु वा व्यक्ति के द्योतनार्थ स्वाभाविक उच्चारण हैं, वैसे 'आप' क्या है ? किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध वा अशुद्ध रूप है, और आदर ही में बहुधा क्यों प्रयुक्त होता है ?

'हुजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तेअफा दे दिया हो तो दूसरी बात है, नहीं तो आप यह कभी न कह सकेंगे कि "आप लफ्जे फ़ारसी या अरबीस्त," अथवा "ओ इटिज एनइंगलिश वर्ड," जब यह नहीं है तो खाहमख़ाह यह हिन्दी शब्द है, पर कुछ सिर पैर मूड गोड भी है कि यों ही ? आप छूटते ही सोच सकते हैं कि संस्कृत में आप कहते हैं जल को, और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आदि में उसी को बनाया था, यथा-'अपएव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत,' तथा हिन्दी में पानी और फ़ारसी में आब का अर्थ

शोभा अथच प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है, जैसे "पानी उतरि गो तरवारिन को उइ करछुलि के मोल विकाय", तथा "पानी उतरिगा रजपूती का उइ फिर बिसुओते (वेश्या से भी) वहि जांय," और फारसी में 'आबरू खाक में मिला बैठे' इत्यादि।

इस प्रकार पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से आप पुकारने लगे होंगे। यह आपका समझना निरर्थक तो न होगा, वडप्पन और आदर का अर्थ अवश्य निकल आवेगा, पर खींचखाच कर, और साथ ही यह शङ्का भी कोई कर बैठे तो अयोग्य न होगी कि पानी के जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय इत्यादि और भी तो कई नाम हैं उनका प्रयोग क्यों नहीं करते, "आप" ही के सुर्खाब का पर कहा लगा है? अथवा पानी की सृष्टि सबके आदि में होने के कारण वृद्ध ही लोगों को उसके नाम से पुकारिए तो युक्तियुक्त हो सकता है, पर आप तो अवस्था में छोटों को भी आप आप कहा करते हैं, यह आपकी कौन सी विज्ञता है? या हम यों भी कह सकते हैं कि पानी में गुण चाहे जितने हों, पर गति उसकी नीच ही होती है। तो क्या आप हमको मुह से आप आप करके अधोगामी बनाया चाहते हैं? हमें निश्चय है कि आप पानीदार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी पानी हो जायगे, और फिर कभी यह शब्द मुह पर भी न लावगे।

सहृदय सुहृद्गण आपस में आप आप की बोली बोलते भी नहीं हैं। एक हमारे उर्दूदां मुलाक़ाती मौखिक मित्र बनने की अभिलाषा से आते जाते थे, पर जब ऊपरी व्यवहार मित्रता का सा देखा तो हमने उनसे कहा कि बाहरी लोगों के सामने की बात न्यारी है, अकेले में अथवा बेतकल्लुफ़ायतवालों के आगे आप आप न किया करो, इसमें मित्रता की

भिनभिनाहट पाई जाती है। पर वह इस बात को न माने, हमने दो चार बार समझाया, पर वह 'आप' थे क्यों मानने लगे? इस पर हमें झुंझलाहट छूटी तो एक दिन उनके आते ही और 'आप' का शब्द मुह पर लाते ही हमने कह दिया कि आपकी ऐसी तैसी? यह क्या बात है कि तुम मित्र बन कर हमारा कहना नहीं मानते? प्यार के साथ तू कहने में जितना स्वादु आता है उतना बनावट से आप सांप कहो तो कभी सपने में नहीं आने का। इस उपदेश को वह मान गये। सच तो यह है कि प्रेम-शास्त्र में, कोई बधन न होने पर भी, इस शब्द का प्रयोग बहुत ही कम, बरच नही के बराबर होता है।

हिन्दी की कविता में हमने दो ही कवित्त इससे युक्त पाए हैं, एक तो 'आपको न चाई ताके बाप को न चाहिये', पर यह न तो किसी प्रतिष्ठित ग्रन्थ का है, और न इसका आशय स्नेह सम्बद्ध है। किसी जले भुने कवि ने कह मारा हो तो यह कोई नहीं कह सकता कि कविता में भी "आप" की पूछ है। दूसरी घनानन्दजी की यह सवैया है—"आपही तौ मन हेरि हरयो तिरछे करि नैनन नेह के चाव में" इत्यादि। पर यह भी निराशापूर्ण उपालम्भ है, इससे हमारा यह कथन कोई खडन नहीं कर सकता कि प्रेम-समाज में "आप" का आदर नहीं है, तू ही प्यारा है।

सस्कृत और फारसी के कवि भी त्व और तू के आगे भवान् और शुमा (तू का बहुवचन) का बहुत आदर नहीं करते। पर इससे आपको क्या मतलब? आप अपनी हिन्दी के 'आप' का पता लगाइये, और न लगै तो हम बतला देंगे। सस्कृत में एक आप्त शब्द है, जो सर्वथा माननीय ही अर्थ में आता है, यहा तक कि न्यायशास्त्र में प्रमाण चतुष्टय (प्रत्यक्ष,

अनुमान, उपमान और शब्द) के अन्तर्गत शब्द प्रमाण का लक्षण ही यह लिखा है कि 'आप्तोपदेश शब्द' अर्थात् आप्त पुरुष का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों के समान ही प्रामाणिक होता है, वा यों समझ लो कि आप्त जन प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण से सर्वथा प्रमाणित ही विषय को शब्द बद्ध करते हैं। इससे जान पड़ता है कि जो सब प्रकार की विद्या, बुद्धि, सत्यभाषणादि सद्गुणों से संयुक्त हो वह आप्त है, और देवनागरी भाषा में आप्त शब्द सब के उच्चारण में सहजतया नहीं आ सकता, इससे उसे सरल करके आप बना लिया गया है, और मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर का द्योतन करने में काम आता है। 'तुम बहुत अच्छे मनुष्य हो' और 'यह बड़े सज्जन हैं'—ऐसा कहने से सच्चे मित्र बनावट के शत्रु चाहे जैसे "पुलक प्रफुल्लित पूरित गाता" हो जायँ, पर व्यवहार-कुशल लोकाचारी पुरुष तभी अपना उचित सन्मान समझेंगे जब कहा जाय कि "आप का क्या कहना है, "आप तो बस सभो बातों में एक ही हैं" इत्यादि।

अब तो आप समझ गये होंगे कि आप कहां के हैं, कौन हैं, कैसे हैं, यदि इतने बड़े बात के बतगड़ से भी न समझे हों तो इस छोटे से कथन में हम क्या समझा सकेंगे कि 'आप' संस्कृत के आप्त शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, और माननीय अर्थ की सूचनार्थ उन लोगों (अथवा एक ही व्यक्ति) के प्रति प्रयोग में लाया जाता है जो सामने विद्यमान हों चाहे बातें करते हों, चाहे बात करनेवालों के द्वारा पूछे बताये जा रहे हों, अथवा दो वा अधिक जनों में जिनकी चर्चा हो रही हो। कभी कभी उत्तम पुरुष के द्वारा भी इसका प्रयोग होता है, वहां भी शब्द और अर्थ वही रहता है, पर विशेषता यह रहती है

कि एक तो सब कोई अपने मन से आप को (अपने तईं) आप ही (आप्त ही) समझता है, और विचार कर देखिये तो आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता या तद्रूपता कहीं लेने भी नहीं जाने पडती, पर बाह्य व्यवहार में अपने को आप कहने से यदि अहकार की गध समझिये तो यों समझ लीजिये कि जो काम अपने हाथ से किया जाता है, और जो बात अपनी समझ स्वीकार कर लेती है उसमें पूर्ण निश्चय अवश्य ही हो जाता है, और उसी के विदित करने को हम और आप तथा यह एव वे कहते हैं कि 'हम आप कर लेंगे' अर्थात् कोई सदेह नहीं है कि हमसे यह कार्य सम्पादित हो जायगा, 'हम आप जानते हैं', अर्थात् दूसरे के बतलाने की आवश्यकता नहीं है, इत्यादि ।

महाराष्ट्रीय भाषा के आपाजी भी उन्नीस विस्वा आप्त और आर्य के मिलने से इस रूप में हो गये हैं, तथा कोई माने या न माने, पर हम मना सकने का साहस रखते हैं कि अरबी के अब्ब (पिता बोलने में अब्बा) और यूरोपीय भाषाओं के पापा (पिता) पोप (धर्म-पिता) आदि भी इसी आप से निकले हैं। हा, इसके समझने समझाने में भी जी ऊने तो अग्रेजी के एबाट (Abot महत) तो इसके हुई हैं, क्योंकि उस बोली में ह्रस्व और दीर्घ दोनों अक्षर का स्थानापन्न A है, और "पकार" को "बकार" से बदल लेना कई भाषाओं की चाल है। रही टी (T) सो वह तो "तकार" हुई है। फिर क्या न मान लीजियेगा कि एबाट साहब हमारे 'आप' बरच शुद्ध आप्त से बने हैं।

हमारे प्रान्त में बहुत से उच्च वश के बालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई २ लोग समझते

हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है, पर यह उनकी समझ ठीक नहीं है, मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अब्बा, और हिन्दू सन्तान के पत्त में 'बकार' का उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अंगरेज़ों की तकार और फ़ारस वालों की टकार नहीं है कि मुहीं से न निकले, और सदा मीवी का मोटी अर्थात् स्थूलांगा की ओर खस की टट्टी का तत्ती अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हां, आत से आप और अप्पा तथा आपा की सृष्टि हुई है, इसी को अरब वालों ने अब्बा में रूपांतरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में "पकार" (पे) नहीं होती। सौ विसा बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बावा, बाबू आदि भी इसी से निकले हैं, क्योंकि जैसे एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' व 'फकार' से बदल लेते हैं, जैसे पादशाह—बादशाह और पारसी—फ़ारसी आदि, वैसे ही कई भाषाओं में शब्द के आदि में 'बकार' भी मिला देते हैं, जैसे वक्ते शब—बवक्ते शब तथा तगआमद—बतगआमद इत्यादि, और शब्द के आदि की ह्रस्व अकार का लोप भी हो जाता है जैसे अमावस का मावस, (सतसई आदि ग्रंथों में देखो) ह्रस्व अकारांत शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व वा दीर्घ उकार भी हो जाती है, जैसे एक—एकु, स्वाद—स्वादु आदि। अथच ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ, आदि की वृद्धि वा लोप भी हुआ ही करता है, फिर हम क्यों न कहें कि जिन शब्दों में अकार और पकार का सपर्क हो, पच अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्राय समस्त संसार के शब्द हमारे आप्त महाशय वा आप ही के उलट फेर से बने हैं।

अब तो आप समझ गये न, कि आप क्या हैं ? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं ! हां, आप ही को उचित होगा कि दमडी छदाम की समझ किसी पसारी के यहा से मोल ले आइए, फिर आपही समझने लगियेगा कि आप "को हैं ? कहां के हैं ! कौन के हैं ?" यदि यह भी न हो सके, और लेख पढ के आपे से बाहर हो जाइये तो हमारा क्या अपराध है ? हम केवल जी में कह लेंगे "शाव ! आप न समझो तो आपां को के पडी छे !" एँ ! अब भी नहीं समझे ? वाह रे आप !

धोखा।

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असम्भव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान रामचन्द्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खाय? बरंच ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वय ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पडता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपच फैलाता है व धोखे की टट्टी खडी करता है।

अतः सब से प्रथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, बरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योस्य वक्ता" "चित्रन्देवानमुदगातनीक" इत्यादि कहा है, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार धारण की दशा में उसका नाम माया वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है, जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध

निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके, पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाये संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहां ?

वेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं। यहां तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भलीभांति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किन्तु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरान्त उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया जिसके शोक में वह फूट २ कर रोने लगे। इसपर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझ कर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम स्वरूप भगवान के बनाये हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जबतक भ्रम है तभी तक संसार है, बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं! परमेश्वर सब का भरम बनाये रक्खे, इसी में सब कुछ है। जहां भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो

लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक है जस मेहरि तस माय," इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मज़ा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस, मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन स्पर्शनादि से आनन्द लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं या एक मिट्टी के गोले का सिरा कहां पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख २ कर सुख प्राप्त करते हैं! विचार कर देखिये तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किस के हाथ में वा किस दशा में पड के हमारे पक्ष में कैसे हो जाय, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आख़िर एक दिन मरना है, और 'मूदि गई आखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सब से सम्बन्ध तोड दें तो सारी पूंजी गवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें!

'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बन के सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोच कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी ?

बहुतेरों का सिद्धान्त यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घडी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहा उसके पुरजों का लगाव बिगडा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक २ बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इन्द्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहा इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ? कैसी आत्मा ! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पडता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततोगत्वा योंही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग नर्कादि के सुख दु'खादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किन्तु बडे बडे आस्तिकों के सिद्धान्त से भी 'अविदित सुख दु'ख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ डाला है, पर नर्क और वैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किन्तु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रख कर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी २ बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई'

और श्री सूरदास जी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न२ चला जाता है, नहीं तो ढिम्मर२ होने लगे, वरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती हैं? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले विना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती हैं।

इसीसे साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्प सामर्थ्यी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असम्भव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निंदा करना नीति विरुद्ध है। पर क्या कीजिये, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गये हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा पीछा सोचे विना जो मुंह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनाव बिगाड़ हो जाया करता है।

बरम्त्रुहि हो जायगा। फिर यदि हम कहें कि बालकों का नाम, रूप, गुण, स्वभाव सभी आनन्दमय है तो क्या झूठ है। दुःख का तो इनके पास एक दिन भी गुज़र नहीं। कोई खिलौना टूट गया, अथवा खाने को न मिला तो घड़ीभर रो लिए, जहां दूसरी ठौर चित्त चल दिया, फिर मगन के मगन। बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि दुःख पाप का फल है, उस पाप का वे नाम भी नहीं जानते। फिर इनसे और दुःख से क्या मतलब।

कभी २ यह किसी मनुष्य वा बिल्ली अथवा कुत्ता के पिल्ले को छुरी आदि भी मार दें, कभी कोई बहुमूल्य वस्तु भी नष्ट कर दें तौ भी यह निर्दोष ही हैं, कभी किसी पर मलमूत्र करदें, तौ भी निरपराध ही हैं। क्योंकि इन्हों ने तो ऐसा काम क्रीडा मात्र के लिए किया है। इन्हीं कारणों से सर्कार भी इन्हें दंड योग्य नहीं ठहराती। बहुधा दुष्ट पुरुष वा स्त्रियां गहने के लोभ अथवा अपने व्यभिचार की बदनामी के डर से इन दयापात्रों पर राक्षसत्व दिखलाते हैं। उनको हमारी न्यायशीला गवर्नमेन्ट दंड भी ऐसा ही कठिन देती है जो दूसरे चोरों और जारों को नहीं मिलता। हमारी समझ में यदि ऐसे माता पिताओं को भी कुछ दंड दिया जाय जो अज्ञान बालकों को पहिराय ओढ़ाय के बिना तकवैया छोड़ देते हैं। इसी प्रकार ऐसे लोगों को भी सजा ठहरा दी जाय जो कामवती बाल विधवाओं के पुनर्विवाह में बाधक होते हैं तौ सोने में सुगंध हो जाय। व्यभिचार, चोरी और और ऐसा ही कुकर्म तो स्त्री पुरुष करें, प्राण जायँ बिचारे दूध के फोहों का !! ऐसे पापियों को तो कुत्तों से नुचवाना भी अयुक्त नहीं है। फांसी आदि तो सर्कार की कोमलचित्तता है।

हमारे जगन्मान्य महर्षियों ने भी बाल-हत्यारों को आततायी कहा है, और 'नाततायि वधे दोष' यह आज्ञा दी है। ईश्वर ने भी हमको भविष्यत् का ज्ञान कदाचित् इसी लिए नहीं दिया कि यदि हम जान लेंगे कि यह लडका बडा होने पर अयोग्य होगा तो उसका सम्भार एवं प्यार न करेंगे। हमारी इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि ऐसे निष्पाप, प्रेममय दयापात्रों की भलाई पर ध्यान न देना देशहितैषिता के विरुद्ध है, वरंच मनुष्यता से भी दूर है! अतः सामर्थ्यभर सबको तन-मन धन से इस नई पौध को उत्तम पथगामी, उद्योगशील, स्वत्वाभिमानी बनाने का और आर्यजाति के अनाथ बालकों को आर्य्य-धर्म-द्वेषि पादरियों की रोटी खाके जन्मभर के पछिताने से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिए।

हमारे कानपुर में तो जैसे हिन्दुओं की गौशाला में लाखों गौएं पलती हैं वैसे ही मुसलमानों की अनाथशाला में करोडों मातृ पितृहीन बालकों की रोटी चलती है। यदि कोई अन्य नगरवासी पुरुष रत्न कुछ उद्योग करें तौ भी हम यह समझ के कृतकृत्य होंगे कि घरवालों ने न सुना तो पडोसियों ही ने हमारी बात पर ध्यान दिया। अरे भाई शीघ्रता में कुछ अधिक न हो सके तो अन्य स्थानों की गोरक्षिणी सभाओं अथवा अनाथालयों ही को कुछ सहायता दो।

युवावस्था।

जैसे धरती के भागों में वाटिका सुहावनी होती है, ठीक वैसे ही मनुष्य की अवस्थाओं में यह समय होता है। यदि परमेश्वर की कृपा से धन-बल और विद्या में त्रुटि न हुई तो तो स्वर्ग ही है, और जो किसी बात की कसर भी हुई तो आवश्यकता की प्रायलयता यथासाध्य सब उत्पन्न कर लेती है। कर्त्तव्याकर्तव्य का कुछ भी विचार न रख के आवश्यकता-देवी जैसे तैसे थोडा बहुत सभी कुछ प्रस्तुत कर देती हैं। यावत् पदार्थों का ज्ञान, रुचि और स्वादु इसी में मिलता है। हम अपने जीवन को स्वार्थी, परोपकारी, भला, बुरा, तुच्छ, महान् जैसा चाहे वैसा इसी में बना सकते हैं। लडकाईं में मानो इसी अवसर के लिए हम तय्यार होते थे, बुढापे में इसी काल की बचत से जीवन यात्रा होगी। इसी समय के काम हमारे मरने के पीछे नेकनामी और बदनामी का कारण होंगे।

पूर्व पुरुषों के पदानुसार बाल्यावस्था में भी यद्यपि हम पंडितजी, लालाजी, मुन्शीजी, ठाकुर साहब इत्यादि कहाते हैं, पर वह ख्याति हमें फुसलाने मात्र को है। बुढापे में भी बुढऊ बाबा के सिवा हमारे सब नाम सांप निकल जाने पर लकीर पीटना है। हम जो कुछ हैं, हमारी जो निजता है, हमारी निज की जो करतूत है, वह इसी समय है। अतः हमें आवश्यक है कि इस काल की क़द्र करने में कभी न चूकें। यदि हम निरे आलसी रहे तो हम युवा नहीं जुवां हैं, अर्थात् एक ऐसे तुच्छ जन्तु हैं कि जहां होंगे वहां केवल मृत्यु के हाथ से जीवन समाप्त करने भर को! और यदि निरे गृह-धंधों में लगे रहे तो भी बैल की भांति जुवा

'युवा काल) होगा। अपने लिए श्रम ही श्रम है, स्त्री पुत्रादि
स पांच हमारे किसान चाहे भले ही कुछ सुखानुभव करलें।

यदि, ईश्वर बचाए, हम इन्दिराराम हो गये तौ भी, यद्यपि
कुछ काल के लिए, हम अपने को सुखी समझेंगे, कुछ लोग
अपने मतलब को हमारी प्रशंसा और प्रीति भी करेंगे, पर
थोड़े ही दिन में उस सुख का लेश भी न रहेगा, उलटा पश्चा-
ताप गले पड़ेगा, बरंच तृष्णा-पिशाची अपनी निराशा नामक
सहोदरा के साथ हमारे जीवन को दु खमय कर देगी। काम,
क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह षड्वर्ग यद्यपि और अव
स्थाओं में भी रहते ही हैं, पर इन दिनों पूर्ण बल को प्राप्त हो के
आत्म-मन्दिर में परस्पर ही युद्ध मचाए रहते हैं, बरंच कभी२
कोई एक ऐसा प्रबल हो उठता है कि अन्य पांच को दबा देता
है, और मनुष्य को तो पांच में से जो बढ़ता है वही पागल
बना देता है। इसी से कोई २ बुद्धिमान कह गए हैं कि इनको
बिल्कुल दबाए रहना चाहिए, पर हमारी समझ में यह
असम्भव न हो तो महा कठिन, बरंच हानिजनक तो है ही।

काम शरीर का राजा है, यह सभी मानते हैं, और
क्रोधादि पांचो उसके भाई वा सेनापति हैं। यदि यह न होने
के बराबर हों तो मानो हृदय, नगर, अथवा जीवन, देश
ही कुछ न रहा। किसी राजवर्ग के सर्वथा वशीभूत होके
रहना गुलाम का काम है वैसे ही राज पारिषद का नाश
कर देने की चेष्टा करना भी मूर्ख, अदूरदर्शी अथवा आत
तायी का काम है। सच्चा बुद्धिमान, वास्तविक वीर वा
पुरुषरत्न हम उसको कहेंगे जो इन छहों को पूरे बल में
रखके इनसे अपने अनुकूल काम ले। यदि किसी ने बल-
नाशक औषधि आदि के सेवन से पुरुषार्थ का और "ब्रह्मसत्य

युवावस्था।

जैसे धरती के भागों में वाटिका सुहावनी होती है, ठीक वैसे ही मनुष्य की अवस्थाओं में यह समय होता है। यदि परमेश्वर की कृपा से धन-बल और विद्या में त्रुटि न हुई तौ तो स्वर्ग ही है, और जो किसी बात की कसर भी हुई तो आवश्यकता की प्रायलयता यथासाध्य सब उत्पन्न कर लेती है। कर्तव्याकर्तव्य का कुछ भी विचार न रखके आवश्यकता-देवी जैसे तैसे थोड़ा बहुत सभी कुछ प्रस्तुत कर देती हैं। यावत् पदार्थों का ज्ञान, रुचि और स्वादु इसी में मिलता है। हम अपने जीवन को स्वार्थी, परोपकारी, भला, बुरा, तुच्छ, महान् जैसा चाहें वैसा इसी में बना सकते हैं। लड़काई में मानो इसी अवसर के लिए हम तय्यार होते थे, बुढ़ापे में इसी काल की बचत से जीवन यात्रा होगी। इसी समय के काम हमारे मरने के पीछे नेकनामी और बदनामी का कारण होंगे।

पूर्व पुरुषों के पदानुसार बाल्यावस्था में भी यद्यपि हम पण्डितजी, लालाजी, मुन्शीजी, ठाकुर साहब इत्यादि कहाते हैं, पर वह ख्याति हमें फुसलाने मात्र को है। बुढ़ापे में भी बुढ़ऊ बाबा के सिवा हमारे सब नाम सांप निकल जाने पर लकीर पीटना है। हम जो कुछ हैं, हमारी जो निजता है, हमारी निज की जो करतूत है, वह इसी समय है। अतः हमें आवश्यक है कि इस काल की कद्र करने में कभी न चूकें। यदि हम निरे आलसी रहे तो हम युवा नहीं जुवां हैं, अर्थात् एक ऐसे तुच्छ जन्तु हैं कि जहां होंगे वहां केवल मृत्यु के हाथ से जीवन समाप्त करने भर को! और यदि निरे ग्रह-धन्धों में लगे रहे तो भी बैल की भांति जुवा

(युवा-काल) ढोया। अपने लिए श्रम ही श्रम है, स्त्री पुत्रादि इस पात्र हमारे किसान चाहे भले ही कुछ सुखानुभव करलें।

यदि, ईश्वर बचाए, हम इंद्रियाराम हो गये तो भी, यद्यपि कुछ काल के लिए, हम अपने को सुखी समझेंगे, कुछ लोग अपने मतलब को हमारी प्रशंसा और प्रीति भी करेंगे, पर थोड़े ही दिन में उस सुख का लेश भी न रहेगा, उलटा पश्चात्ताप गले पड़ेगा, बरंच तृष्णा-पिशाची अपनी निराशा नामक सहोदरा के साथ हमारे जीवन को दु खमय कर देगी। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह षड्वर्ग यद्यपि और अवस्थाओं में भी रहते ही हैं, पर इन दिनों पूर्ण बल को प्राप्त हो के आत्म मन्दिर में परस्पर ही युद्ध मचाए रहते हैं, वरंच कभी२ कोई एक ऐसा प्रबल हो उठता है कि अन्य पांच को दबा देता है, और मनुष्य को तो पांच में से जो बढ़ता है वही पागल बना देता है। इसी से कोई २ बुद्धिमान कह गए हैं कि इनको बिल्कुल दबाए रहना चाहिए, पर हमारी समझ में यह असम्भव न हो तो महा कठिन, वरंच हानिजनक तो है ही।

काम शरीर का राजा है, यह सभी मानते हैं, और क्रोधादि पांचो उसके भाई वा सेनापति हैं। यदि यह न होने के बराबर हों तो मानो हृदय, नगर, अथवा जीवन, देश ही कुछ न रहा। किसी राजवर्ग के सर्वथा वशीभूत होके रहना गुलाम का काम है वैसे ही राज पारिषद का नाश कर देने की चेष्टा करना भी मूर्ख, अदूरदर्शी अथवा आततायी का काम है। सच्चा बुद्धिमान, वास्तविक वीर वा पुरुषरत्न हम उसको कहेंगे जो इन छहों को पूरे बल में रखके इनसे अपने अनुकूल काम ले। यदि किसी ने बल-नाशक औषधि आदि के सेवन से पुरुषार्थ का और "ब्रह्मसत्य

कारिणी मान लो, चाहे मुसलमानों और क्रिस्तानों के मतानुसार सदा के लिए आत्मा को फूकनेवाली ठहरा लो। हेर फेरके सिद्धांत यही निकलेगा कि यह न हो तो हमारा निर्वाह न हो, या यों कहो कि न हो तो अल्लामिया की कुदरत को वर्तमान कानून बदलनी पड़े। हाँ, और नियमबद्ध न हों तो हमारी जीवन यात्रा नर्कमय हो जाय, इसलिए यही उचित है कि जैसे बने वैसे हिकमत के साथ इनसे बर्ताव रक्खें।

न का अर्थ है नहीं और अरि कहते हैं शत्रु को, भावार्थ यह हुआ कि न यह शत्रु हैं न इनसे अधिक कोई शत्रु है। जहां तक हो, इन्हें स्वतन्त्रता न सौंपो। अच्छे वैद्यों के द्वारा, पथ्यापथ्य विचार-द्वारा, म्यूनिसिप्यलिटी द्वारा, सदुपदेश द्वारा नारी मात्र को अनुकूल रखना ही श्रेयस्कर है। तनिक भी व्यतिक्रम पाओ तो वैद्यराज से कहो, महाराज नारी देखिए, मुहल्ले के मेहतर से कहो कि चिलम पीने को यह पैसा लो, और नारी अभी साफ़ करो, घर की लक्ष्मी से कहो ना री! ऐसा उचित नहीं। कोई अफीम खा गया हो तो उसके सबधी से कहो कि नारी का साग पिलाना चाहिए। इसी प्रकार सदैव नारी का विचार और भगवान् मदनारी (कामदेव के नाशक शिव) का ध्यान रक्खा करो, नहीं महाअनारी हो जाओगे।

दांत।

इन दो अक्षर के शब्द तथा इन थोडी सी छोटी २ ड्डियों में भी उस चतुर कारीगर ने वह कौशल दिखलाया ै कि किस के मुह में दांत हैं जो पूरा २ वर्णन कर सके। ुख की सारी शोभा और यावत् भोज्य पदार्थों का स्वादु न्हीं पर निर्भर है। कवियों ने अलक, (जुल्फ़) भ्रू (भौं) ाथा वरुणी आदि की छवि लिखने में बहुत २ रीति से बाल ी खाल निकाली है, पर सच पूछिए तो इन्हीं की शोभा से ब की शोभा है। जब दांतों के बिना पुपला सा मुह निकल ाता है, और चिबुक (ठोढी) एव नासिका एक में मिल ाती हैं उस समय सारी सुघराई मट्टी में मिल जाती है। ैन-वाण की तीक्ष्णता, भ्रू-चाप की खिचावट और अलक ागी का विष कुछ भी नहीं रहता।

कवियों ने इसकी उपमा हीरा, मोती, माणिक से दी है, ह बहुत ठोक है, वरच यह अवयव कथित वस्तुओं से भी धिक मोल के हैं। यह वह अंग है जिसमें पाकशास्त्र के छहों ्स एव काव्यशास्त्र के नवों रस का आधार है। खाने का जा इन्हीं से है। इस बात का अनुभव यदि आपको न हो तो िसी बुड्ढे से पूछ देखिए, सिवाय सतुआ चाटने के और ोटी को दूध में तथा दाल मे भिगोके गले के नीचे उतार ेने के दुनियाभर की चीजों के लिए तरस ही के रह जाता ोगा। रहे कविता के नौ रस, सो उनका दिग्दर्शनमात्र हमसे ुन लीजिए —

श्रृङ्गार का तो कहना ही क्या है! ऐसा कवि शायद कोई ी हो जिसने सुन्दरियों की दन्तावली तथा उनके गोरे

कारण-विशेष से मुंह के बाहर रह जाते हैं, और सारी शोभा खोके भेड़िए कैसे दांत दिखाई देते हैं। क्यों नहीं, गाल और होंठ दांतों का परदा है, जिसके परदा न रहा, अर्थात् स्वजातित्व की गैरतदारी न रही, उसकी निरलज्ज जिंदगी व्यर्थ है। कभी आपको दाढ की पीडा हुई होगी तो अवश्य यह जी चाहा होगा कि इसे उखड़वा डालें तो अच्छा है। ऐसे ही हम उन स्वार्थ के अंधों के हक में मानते हैं जो रहें हमारे साथ, बनें हमारे ही देश भाई, पर सदा हमारे देश जाति के अहित ही में तत्पर रहते हैं! परमेश्वर उन्हें या तो सुमति दे या सत्यानाश करे। उनके होने का हमें कौन सुख? हम तो उनकी जैजेकार मनावेंगे जो अपने देशवासियों से दांतकाटी रोटी का बर्ताव (सच्ची गहरी प्रीति) रखते हैं। परमात्मा करे कि हर हिन्दू मुसलमान का देशहित के लिए चाव के साथ दांतों पसीना आता रहे। हमसे बहुत कुछ नहीं हो सकता तो यही सिद्धान्त कर रक्खा है कि—

'कायर कपूत कहाय, दांत दिखाय भारत तम हरौं',

कोई हमारे लेख देख दांतों तले उंगली दबाके सूझबूझ की तारीफ करे, अथवा दांत बाय के रह जाय, या अरसिकता वश यह कह दे कि कहा की दांताकिलकिल लगाई है तो इन बातों की हमें परवा नहीं है। हमारा दांत जिस ओर लगा है, वह लगा रहेगा, औरों की दंतकटाकट से हमको क्या?

यदि दांतों के सम्बन्ध का वर्णन किया चाहें तो बड़े बड़े ग्रन्थ रंग डालें, और पूरा न पड़े। आदि देव श्री एकदंत गणेश जी को प्रणाम करके श्री पुष्पदंताचार्य ने महिम्न में जिनकी स्तुति की है, उन शिवजी की महिमा, दंतवक्र शिशुपालादि के संहारक श्रीकृष्ण की लीला ही गा चलें तो कोटि जन्म पार न

पावें। नाली में गिरी हुई कौड़ी को दांत से उठानेवाले मक्खी-चूसों की हिजो किया चाहें तौ भी लिखते २ थक जाय। हाथी दांत से क्या २ वस्तु बन सकती हैं? कलों के पहियों में कितने दांत होते हैं? और क्या २ काम देते हैं? गणित में कौड़ी २ के एक २ दांत तक का हिसाब कैसे लग जाता है? वैद्यक और धर्मशास्त्र में दंतधावन की क्या विधि है, क्या फल है, क्या निषेध है, क्या हानि है? पद्धतिकारों ने 'दीर्घ दंताकश्चिन्मूर्खा' आदि क्यों लिखा? किस २ जानवर के दांत किस २ प्रयोजन से किस २ रूप, गुण से विशिष्ट बनाए गए हैं? मनुष्यों के दांत उजले, पीले, नीले, छोटे, मोटे, लम्बे, चौड़े, घने, खुडहे के रीति के होते हैं? इत्यादि, अनेक बातें हैं, जिनका विचार करने में बड़ा विस्तार चाहिए। बरंच यह भी कहना ठीक है कि यह बड़ी २ विद्याओं के बड़े २ विषय लोहे के चने हैं, हर किसी के दांतों फूटने के नहीं! तिसपर भी अकेला आदमी क्या २ लिखे?

अत हम इस दंतकथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं, अत हमें योग्य है कि जैसे बत्तिस दांतों के बीच जीभ रहती है वैसे रहें, और अपने देश की भलाई के लिए किसी के आगे दांतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रक्खें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास-योग्य नहीं हैं। हाथी के दांत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।

भौं।

निश्चय है कि इस शब्द का रूप देखते ही हमारे प्यारे पाठकगण निरर्थक शब्द समझेंगे, अथवा कुछ और ध्यान देंगे तो यह समझेंगे कि कार्तिक का मास है, चारो ओर कुत्ते तथा जुवारी भौं भौं भौंकते फिरते हैं, सम्पादकी की सनक में शीघ्रता के मारे कोई और विषय न सूझा तो यही "भौं" अर्थात भूकने के शब्द को लिख मारा! पर बात ऐसी नहीं है। हम अपने वाचकवृन्द को इस एक अक्षर में कुछ और दिखाया चाहते हैं। महाशय! दर्पण हाथ में लेके देखिये, आखों की पलकों के ऊपर श्याम-वर्ण-विशिष्ट कुछ लोम हैं। बरुनी न समझिएगा, माथे के तले और पलकों के ऊपरवाले रोम-समूह। जिनको अपनी हिन्दी में हम भौं, भौंह, भौंहें कहते हैं, संस्कृत के पंडित भ्रू बोलते हैं। फारसवाले अबरू और अंगरेज़ लोग 'आईब्रो' कहते हैं, उन्हींका वर्णन हमें करना है।

यह न कहिएगा कि थोड़े से रोएं हैं, उनका वर्णन ही क्या! नहीं। यह थोड़े से रोएँ बहुत से सुवर्ण के तारों से अधिक हैं। हम गृहस्थ हैं, परमेश्वर न करे, किसी बड़े बूढ़े की मृत्यु पर शिर के, दाढ़ी के और सर्वोपरि मूछों तक के भी बाल बनवा डालेंगे, प्रयाग जी जायँगे तौ भी सर्वथा मुंडन होगा, किसी नाटक के अभिनय में स्त्री भेष धारण करेंगे तौभी घुटा डालेंगे, ससार-विरक्त होके सन्यास लेंगे तौ भी भद्र कराना पड़ेगा, पर चाहे जग परलौ हो जाय, चाहे लाख तीर्थ घूम आवें, चाहे दुनियाभर के काम विगड़ जाय, चाहे जीवनमुक्त ही का पद क्यों न मिल जाय, पर यह हमसे कभी न होगा कि एक छूरा भौंहों पर फिरवा लें। सौ हानि, सहस्र शोक, लक्ष अप-

तिछा हो तौ भी हम अपना मुह सब को दिखा सकते हैं, पर यदि किसी कारण से भौहें सफाचट्ट हो गई तो परदेनशीनी ही स्वीकार करनी पडेगी। यह क्यों ? यह यों कि शरीरभरे की शोभा मुख-मण्डल है, और उसकी शोभा यह हैं। उस परम कारीगर ने इन्हें भी किस चतुरता से बनाया है कि बस, कुछ न पूछो। देखते ही बनता है। कविवर भर्तृहरिजी ने—

"भ्रूचातुर्य कुंचिताक्षा, कटाक्षा, स्निग्धा, वाचो लज्जिता चैवहास,
लीला मद प्रस्थित च स्त्रीणां मेतद्भूषण चायुधच"

लिखकर क्या ही सच्ची बात दिखलाई है कि बस, अनुभव ही से काम रखती है। कहे कोई तो क्या कहे, निस्सदेह, स्त्रियों के लिए भूषण है, क्योंकि उनकी परम शोभा है, और रसिकों को वशीभूत करने के हेतु सुन्दरियों का शस्त्र है। यह बात सहृदयता से सोचो तो चित्त में अगणित भाव उत्पन्न होंगे, देखो तो भी अनेक स्वादु मिलेंगे। पर जो कोई पूछे कि यह क्या है तो भ्रूचातुर्य्य अर्थात भौहों में भरी हुई चतुरता से अधिक कुछ नाम नहीं ले सकते। यदि कोई उस भ्रू-चातुर्य्य का लक्षण पूछे तो बस, चुप। हाय २ कवियों ने तो भौंह की सूरतमात्र देखके कही दिया है, पर रसिकों के जी से कोई पूछे ! प्रेमपात्र की भौंह का तनक हिल जाना मनके ऊपर सचमुच तलवार ही का काम कर जाता है। फिर भ्रकुटी-कृपाण क्यों न कहें। सीधी चितवन बान ही सी कलेजे में चुभ जाती है। पर इसी भ्रू-चाप की सहाय से श्री जयदेव-स्वामी का यह पवित्र वचन—

'शशि'मुखि ! तव भाति भगुर भ्रू
युवजन मोह कराल कालसर्पी,

—इनकी आंखों से देखना चाहिए, जिनके प्रेमाधार कोप के समय भौंह सकोड लेते हैं। आहा हा, कई दिन दर्शन न मिलने से जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा हो उसे वह हृदयाभिराम की प्रेमभरी चितवन के साथ भावभरी भृकुटी ईद के चांद से अनंत ही गुणी सुखदायिनी होती है। कहा तक कहिए, भृकुटी का वर्णन एक जीभ से तो होना ही असभव है। एक फारसी का कवि यह वाक्य कहके कितनी रसज्ञता का अधिकारी है कि रसिकगण को गूंगे का गुड हो रहा है—भृकुटी-रूपी छंद-पंक्ति के सहस्रों सूक्ष्म अर्थ हैं, पर उन अर्थों को बिना बाल की खाल निकालनेवालों अर्थात् महा तीव्र बुद्धिवालों के कोई समझ नही सकता।*

जब यह हाल है कि महा तीव्र-बुद्धि केवल समझ सकते हैं तो कहने की सामर्थ्य तो है किसे ? संस्कृत, भाषा, फारसी और उर्दू में काव्य का ऐसा कोई ग्रन्थ ही नहीं है जिसमें इन लोमराशि का वर्णन न हो।

अत हम यह अध्याय अधिक न बढाके इतना और निवेदन करेंगे कि हमारे देश-भाई विदेशियों की वैभवोन्मादरूपी वायु से सञ्चालित भ्रकुटी-लता ही को चारो फलदायिनी समझके न निहारा करें, कुछ अपना हिताहित आप भी विचारें। यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे है तौ भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड दें, आपस में बात २ पर भौंहें चढाना छोड दें, दढता से कटिबद्ध होके, बीरता से भौंहें तानके देश-हित में सन्नद्ध होजाय, अपने देश

* हजारा मानिए बारीक बाराद बैते अबरू। कि हरइक मूशिगाफ़ा कस न फ़हमद मानिए ऊरा।

'ट'।

इस अक्षर में न तो 'लकार' का सा लालित्य है, न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्व-बोधक गुण है, पर विचार कर के देखिए तो शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुवा है सूक्ष्म विचारके देखो तो फारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न होके मरना मारना जानते हैं, जबरदस्त होने पर निर्बलों को मन मानी रीति पर सताना जानते हैं, बडे प्रसन्न हों तो तन, मन, धन से सहाय करना जानते हैं, जहा और कोई युक्ति न चले वहा निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का बट्टा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे धीरे हसा खिलाके अपना मतलब गांठना, जो नीति का जीव है, उसे बिलकुल नहीं जानते।

इतिहास लेके सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए। ऐसा कोई न मिलेगा जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो। यही कारण है कि उनकी वर्ण-माला में टवर्ग हई नहीं। किसी फारसी से टट्टी कहलाइए तो मुह बीस कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती। टट्टी की ओट में शिकार करना जानते ही नहीं, उन विचारों के यहा 'टट्टा' का अक्षर कहा से आवे। इधर हमारे गौरागदेव को देखिए। शिरपर हैट, तन पर कोट, पावों में प्यंट, और बूट, ईश्वर का नाम आलमाइटी, (सर्वशक्तिमान) गुरू का नाम ट्यूटर मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिससे प्रीति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोजगार का नाम ट्रेड, नफा का [illegible] फ़ि॰, कवि का नाम 'पोयट, मूर्ख का नाम

डालते हैं! हम प्रजागण कुछ उपाय ही नहीं करते, इसका क्या हेतु है? इन सब बातों का यही कारण है कि इन सब नामों के आदि में यह दुरूह 'दकार' है!

हमारे श्रेष्ठ सहयोगी "हिन्दी प्रदीप" सिद्ध कर चुके हैं कि 'लकार' बड़ी ललित और रसीली होती है। हमारी समझ में उसी का साथ पाने से दीनदयाल, दिलासा, दिलदार, दालभात इत्यादि दस पांच शब्द कुछ पसंदीदा हो गये हैं, नहीं तो देवताओं में दुर्गाजी, ऋषियों में दुर्वासा, राजाओं में दुर्योधन महान् होने पर भी कैसे भयानक हैं। यह ददा ही का प्रभाव है। कनवजियों के हक में दमाद और दहेज, खरीदारों के हक में दुकानदार और दलाल, चिड़ियों के हक में दाम (जाल) और दाना आदि कैसे दुखदायी हैं! दमड़ी कैसी तुच्छ सख्या है, दाद कैसा बुरा रोग है, दरिद्र कैसी कुदशा है, दारू कैसी कड़ुवाहट, बदबू, बदनामी और बदफैली की जननी है, दोगला कैसी खराब गाली है, दगा बखेड़ा कैसी बुरी आदत है, दश (मच्छड या डांस) कैसे हैरान करनेवाले जन्तु हैं, दमामा कैसा कान फाड़नेवाला बाजा है, देशी लोग कैसे घृणित हो रहे हैं, दलीपसिंह कैसे दीवानापन में फस रहे हैं। कहां तक गिनावें, दुनियाभर की दन्द फन्द कट 'दकार' में भरी है, इससे हम अपने प्रिय पाठकों का दिमाग चाटना नहीं पसन्द करते, और इस दुस्सह अक्षर की दास्तान को दूर करते हैं।

'ट'।

इस अक्षर में न तो 'लकार' का सा लालित्य है, न 'दकार' का सा दुरूहत्व, न 'मकार' का सा ममत्व बोधक गुण है, पर विचार कर के देखिए तो शुद्ध स्वार्थपरता से भरा हुवा है सूक्ष्म विचारके देखो तो फारस और अरब की ओर के लोग निरे छल के रूप, कपट की मूरत नहीं होते, अप्रसन्न होके मरना मारना जानते हैं, जबरदस्त होने पर निर्बलों को मनमानी रीति पर सताना जानते हैं, बडे प्रसन्न हों तो तन, मन, धन से सहाय करना जानते हैं, जहा और कोई युक्ति न चले वहा निरी खुशामद करना जानते हैं, पर अपने रूप में किसी तरह का बट्टा न लगने देना और रसाइन के साथ धीरे धीरे हसा खिलाके अपना मतलब गांठना, जो नीति का जीव है, उसे बिलकुल नहीं जानते।

इतिहास लेके सब बादशाहों का चरित्र देख डालिए। ऐसा कोई न मिलेगा जिसकी भली या बुरी मनोगति बहुत दिन तक छिपी रह सकी हो। यही कारण है कि उनकी वर्णमाला में टवर्ग हई नहीं। किसी फारसी से टट्टी कहलाइए तो मुह बीस कोने का बनावेगा, पर कहेगा तत्ती। टट्टी की ओट में शिकार करना जानते ही नहीं, उन विचारों के यहा 'टट्टा' का अक्षर कहां से आवे। इधर हमारे गौरागदेव को देखिए। शिरपर हैट, तन पेर कोट, पावों में प्यंट, और बूट, ईश्वर का नाम आलमाइटी, (सर्वशक्तिमान) गुरू का नाम ट्यूटर मास्टर (स्वामी को भी कहते हैं) या टीचर, जिसमे प्रीति हो उसकी पदवी मिस्ट्रेस, रोजगार का नाम ट्रेड, नफा का नाम बेनीफिट, कवि का नाम पोयट, मूर्ख का नाम

स्टुपिड, खाने में टेबिल, कमाने में टेक्स। कहां तक इस ट्रिटिल-टेटिल (बकवाद) को पढावें, कोई बडी डिक्शनरी (शब्द-कोष) को लेके ऐसे शब्द ढूंढिए, जिनमें 'टकार' न हो तो बहुत ही कम पाइएगा! उनके यहां 'ट' इतना प्रविष्ट है कि तोता कहाइए तो टोटा कहेंगे। इसी 'टकार' के प्रभाव से नीति में सारे जगत् के मुकुट-मणि हो रहे हैं। उनकी पालिसी समझना तो दरकिनार, किसी साधारण पढ़े लिखे से पालिसी के माने पूछो तो एक शब्द ठीक ठीक न समझा सकेगा।

इससे बढके नीतिनिपुणता क्या होगी कि रुजगार में, व्यवहार में, कचहरी में, दरबार में, जीत में, हार में, बैर में, प्यार में, लह्ला के सिवा दद्दा जानते ही नहीं! रीझेंगे तो भी जियाफत लेंगे, नजर लेंगे, तुहफा लेंगे, सौगातें लेंगे, और इन सैकडों हज़ारों के बदले देंगे क्या, 'श्रीईसाई' (सी० एस० आई०) की पदवी, या एक कागज के टुकडे पर सार्टिफ़िकेट, अथवा कोरी थैंक, (धन्यवाद) जिसे उर्दू में लिखो तो ठेंग अर्थात् हाथ का अगूठा पढा जाय! धन्य री स्वार्थसाधकता! तभी तो सौदागरी करने आए, राजाधिराज बन गए। क्यों न हो, जिनके यहां बात २ पर 'टकार' भरी है उनका सर्वदा सर्वभावेन सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है! नीति इसी का नाम है, 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत हो ले गए तब भारतीय लोगों की कुछ कुछ आखें खुली हैं। पर अभी बहुत कुछ करना है। पहिले अच्छी तरह आखें खोल के देखना चाहिए कि यह अक्षर जैसे अंगरेजों के यहां है वैसे ही हमारे यहां भी है, पर भेद इतना है कि उनकी "टी" की सूरत ठीक एक

ऐसे कांटे की सी है कि नीचे से पकडके किसी वस्तु में डाल दें तो जाते समय कुछ न जान पड़ेगा, पर निकलते समय इस वस्तु का दोनों हाथों अपनी ओर खींच लावेगा। प्रत्यक्ष देख लो कि यह जिसका स्वत्व हरण किया चाहते हैं उसे पहले कुछ भी नहीं ज्ञान होता, पीछे से जो है सो इन्हीं का। और हमारे वर्णमाला का "ट" एक ऐसे आंकड़े के समान है, जिसे ऊपरसे* पकड सकते हैं, और हर पदार्थ में प्रविष्ट कर सकते हैं, पर उस वस्तु को यदि सावधानी से अपनी ओर खींचें तो तो कुशल है नहीं तो कोरी मिहनत होती है। इसी से हम जिन बातों को अपनी ओर खींचना आरम्भ करते हैं उनमें 'टकार' के नीचेवाली नोक की भांति पहिले तो हमारी गति खूब होती है, पर पीछे से जहां दृढता में चूके वहीं संठ के सठ रह जाते हैं।

दूसरा अन्तर यह है कि अङ्गरेजों के यहा "टी" सार्थक है और हमारे यहां एक रूप से निरर्थक। अंगरेजी में "टी" के माने चाह के हैं, जो उनके पीने की चीज है, अर्थात् वे अपना पेट भरना खूब जानते हैं। पर हमारे यहा "ट" का कुछ अर्थ नहीं है। यदि टट्टा कहो तो भी एक हानिकारक ही अर्थ निकलता है, घर में टट्टा लगा हो तो न हम बाहर जा सकते हैं, अर्थात् अन्य देश में जाते ही धर्म और बिरादरी में बदनाम होते हैं, और बाहर की विद्या, गुण आदि हमारे हृदय-मंदिर के भीतर नहीं आ सकते। आवैं भी तो हमारे भाई चोर२ कहके चिल्लाय। यह अनर्थ ही तो है।

---

* नीचे से पकड़ना अर्थात् उसके मूल को दृढ़ के काम में लाना और ऊपर से पकड़ना अर्थात् दैवाधीन समझ कर कर बढ़ाना।

तीसरा फर्क लीजिए, जितना उनके यहां "ट" का खर्च है उतना हमारे यहा है नहीं । तिस पर भी हम अपने यहा के "ट" का बर्ताव बहुत अच्छी रीति से नहीं करते। फिर कहां से पूरा पड़े । 'टकार' का अक्षर नीतिमय है, उस नीतिमय अक्षर को बुरी रीति से काम में लाना बुरा ही फल देता है । हम ब्राह्मण हैं तो टीका (तिलक) और चोटी सुधारने में घटों विता देते हैं, यह काम स्त्रियों के लिए उपयोगी था, हमें चाहिए था, वास्तविक धर्म पर अधिक जोर देते । यदि हम क्षत्री हैं तो टटा-बखेडा में पडे रहते हैं। यह काम चाहिए था शत्रुओं के साथ करना, नकि आपस में।यदि हम वैश्य हैं तो केवल अपना ही टोटा (घटी) या नफा विचारेंगे, इससे सौदागरी का सच्चा फल नहीं मिलता। यदि हम अमीर हैं तो सैकडों रुपया केवल अपना टिमाक बनाने में लगा देंगे, टेसू बने बैठे रहेंगे, इससे तो यह रुपया किसी देश हितकारी काम में लगाते तो अच्छा था । पढे लिखे हैं तो मतवाद में टिलटिलाया करेंगे, कोई काम करेंगे तो अटसंट रीति से, सरतारे होंगे तो टालमटोला किया करेंगे ।

इस उटपटांग कहानी को कहा तक कहिए, बुद्धिमान विचार सकते हैं कि जब तक हमारी यह टेंव न सुधरेगी, जब तक हमारे देश में ऐसी ही टिचर्र फैली रहेगी तब तक हमारे दुःख-दरिद्र भी न टलेंगे । दुर्दशा योंही टेंटुआ दबाए रहेगी ! हमें अति उचित है कि इसी घटिका से अपनी टूटी फूटी दशा सुधारने में जुट जाय । विराट् भगवान के सच्चे भक्त बनें, जैसे ससार का सब कुछ उनके पेट में है वैसे ही हमें भी चाहिए कि जहा से जिस प्रकार जितनी अच्छी बातें मिलें सब अपने पेट के पिटारे में भर लें, और देशभर को

नसे पाट दें, भारतवासीमात्र को एक बाप के बेटे की तरह यार करें, अपने २ नगर में नेशनल कांग्रेस की सहायक कमेटी कायम करें, पॅटी कांग्रेसवालो की टाय २ पर ध्यान दें। बस नागर नट की दया से सारे अभाव झट पट हट जायगे, और हम सब बातों में टञ्च हो जायगे। यह 'टकार' नेरस सी होती है, इससे इसके सम्बन्धी आरटिकिल में कैसी नटखट सुन्दरी की चटक मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आंखों के साथ हट! अरे हट! की बोलचाल का सामना तो ला न सकते थे, केवल टटोल टटाल के थोडी सी पटीटरी की टेंक निभा दी है। आशा है कि इसमें की कोई बात टेंट में खोंस राखिएगा तो टका पैसाभर गुण ही करेगा। बोलो टेढी टांगवाले की जै

परीक्षा।

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इसका सामना किसी को पडे। महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी, जिसको आज भी सब किस्तान पढते हैं, उसमें एक यह भी भाव है कि "हमें परीक्षा में न डाल, वरंच बुराई से बचा"। परमेश्वर करे सब की मुर्दा भलमसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहिले कांप उठता है, फिर उसके यावत् परमाणु, सब छितर बितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना है! हमारे पाठकों में कदाचित् ऐसा कोई न होगा जिसने बाल्यावस्था में कहीं पढा न हो। महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए, जब इम्तहान के थोडे दिन रह जाते थे। क्या सोते जागते, उठते बैठते हर घडी एक चिन्ता चित्त पर न चढी रहती थी। पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तौ भी दिनरात देवी देवता मनाते बीतता था। देखिए, क्या हो, परमेश्वर कुशल करे। सच है, यह अवसर ही ऐसा है। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग्य में नहीं है।

जिन्हें हम आज बडा पडित, धनी, बडा बली, महा देश हितैषी, महा सत्यसध, महा निष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनकी ठीक ठीक परीक्षा करने लगें तो कदाचित् फी सैकडा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें? वेश्याओं के यहा यदि दो चार मास आपकी बैठक

रहो हो तो देखा होगा, कैसे २ प्रतिष्ठित, कैसे २ सभ्य, कैसे कैसे धर्मध्वजी वहां जाकर क्या क्या लीला करते हैं! यदि महाजनों से कभी काम पडा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रगट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमनसी दीख पडती है वह गुप्तरूपेण के जनों में कहां तक है! जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा ससार में हमें परीक्षार्थ भेजा है उनके अन्त करण की गति पर हमें दया आती है। हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं उस सर्वज्ञ सर्वांतरयामी से छिपा नहीं है। हम पापात्मा, पाप सम्भव, भला उसके आगे परीक्षा में के पल ठहरेंगे?

ससार में ससारी जीव निस्सन्देह एक दूसरे की परीक्षा न करें तो काम न चले, पर इस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अत प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय सभव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है, और यह बात यदि निस्सन्देह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा १०० बार कर लीजिए उसकी ओर से भी सन्देह बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है! फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उत्कल का विषय नहीं है। कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं, थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है, थोडी ही योग्यता में अधिक आडम्बर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचम्भा है। सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है, अत ठीक परीक्षा पर जिसकी कलई न खुल जाय उसी के धन्य भाग! हमने भी स्वय अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ बदनाम रहे, बीसियों

हानियां सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गये, उनके दोष अपने ऊपर ले लिए, और वे भी सदा हमारी बात २ पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, सदा कहते रहे, जहां तेरा पसीना गिरेगा वहां हमारा मृत शरीर पहिले गिर लेगा, पर जब समय आया, कि गैरों के सामने हमारी इज्जत न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने फटी उङ्गली पर न मूता!

यदि कोई कहे कि तुम कौन बड़े बुद्धिमान हो जो तुम्हारे तजरबे (अनुभव) पर हम निश्चय कर लें, तो हम मान लेंगे, पर यह कहने का हमें ठौर बना है कि मुद्दत तक राजा शिवप्रसादजी को सहस्रों ने क्या समझा, और अन्त में क्या निकले! सैयदअहमद साहब को पहिले बहुतेरों ने निश्चय किया कि देशमात्र के हितैषी हैं, पीछे से यह खुला कि केवल निज सहधर्मियों के शुभचिंतक हैं। यह भी अच्छा था, पर नेशनल कांग्रेस में यह सिद्ध होगया कि "योसिसोसि तव चरण नमामी"। "हिन्दी प्रदीप" से ज्ञात हुआ कि दिहाती भाई भी सैयद बाबा पर मधुर बानी की शोरीनी चढ़ाते हैं। हम भी मानते हैं कि कांग्रेस अभी ३ बरस की बच्ची है, इस पर रक्षा का हाथ रखना ही उन्हें योग्य है, क्योंकि यह हिन्दू-मुसलमान दोनों की हितैषिणी है, ऐसे २ बहुत से दृष्टान्त अनुमान है कि सभी को मिला करते होंगे, जिनसे सिद्ध है कि परीक्षा का नाम बुरा! राम न करे कि इसकी प्रचण्ड आंच से किसी की कलई खुले! एक आर्य कवि का अनुभूत वाक्य है—

'परत सायिका सावुनहि देत खीस सी काढ़ि'

एक उर्दू कवि का यह वचन कितना हृदयग्राही है—

'इस शर्त पर जो लीजे तो हाजिर है दिल अभी,
'रंजिश न हो, फरेब न हो, इम्तिहां न हो।'

वाला, (दुष्कर्मों से घृणा करनेवाला) और मनोरथों का पूर्ण करनेवाला है—

"ऐ ज़र तु ख़ुदा नई वलेकिन बख़ुदा,
सत्तारो ग़फ़ूरो क़ाज़ी उल हाजाती।

हम भी कह सकते हैं कि मरने जीने, दुःख-सुख और नर्क-स्वर्ग की एक कुंजी भगवती लक्ष्मी (ज़रे अलेहुस्लाम) के हाथ में भी है। लोग कहते हैं—"जन (स्त्री) ज़मीन और ज़र, सब झगड़े का घर," पर सच तो यह है कि ज़मीन तो ज़र ही का रूपान्तर है, और जन भी पेटभरों के अलवल हैं।

ठीक पूछो तो अनर्थ का मूल यही है। ब्रह्म-देश के विषय में हमारी सरकार ने इतनी बदनामी और मुड़धुन सहके इस बात को सिद्ध कर दिया कि रुपये के लिए बड़े बड़ों की नियत डिग जाती है। बाप-बेटे, स्त्री-पुरुष, भाई भाई में महा विरोध हो जाना इत्यादि अनर्थ लोग सहज कर डालते हैं। फिर "बाप बड़ा ना भइया, सब से बड़ा रुपय्या" में क्या सन्देह है। सौ अनर्थ कर डालो, एक आध मंदिर बनवा डालो या भोजन करा दो, कोई कुछ न कहेगा, वरंच चाहे सो करो, मुह पर सब चुटकी ही बजावेंगे। फिर "सारे औगुन छिपत हैं, लछमिनिया की ओट", कौन का डर है। इस दो अक्षर के शब्द से लोग ऐसा गिधे हैं कि जिससे कह दो, सो ना, (सोओ मत) देखो कैसा सीक पार होता है, कोई तुम्हारा आश्रित है जो डर के मारे तुम्हारी आज्ञा मानेगा, पर कभी २ कोई २ आज्ञा सुनके भीतरी भीतर पच जाता है, पर रात को कुछ काम देर तक करने के पीछे कह दीजिए—सो ना, (सो रहो न) देखो कैसा मगन हो जायगा।

सोना ।

यह शब्द भी, हम जानते हैं, ऐसा कोई न होगा जिसे परम सुखदायक न हो। यदि दिनभर के श्रम से थके मांदों को यह न मिले तो दूसरे दिन के काम के न रहें। दिन रात ऐश करनेवालों को यदि एक दिन न मयस्सर हो तो वैद्यों की चांदी है। योगी, कामी, कवि, जुवारी, चोर— इनको लोग कहते हैं नहीं सुहाता, पर हमारी समझ में वे भी केवल अपना व्यसनमात्र निवाह लें, नहीं तो एक रीति से सोते वे भी हैं। कोई ससार से सोता है, कोई परमार्थ से गाफिल रहता है। फिर क्योंकर कहिए कि सोने से कोई विरक्त है! इसके बिना मनुष्य का जीवन ही नहीं रह सकता।

इधर दूसरे अर्थ में भी लीजिए, ऐसा प्यारा है कि स्त्रियां इसके लिए कानों को चलनी करा डालती हैं। यदि कोई ऐसा गहना हो जिसमें बरमे से हाथ पांव की हड्डियां छिदानी पड़ें तो भी, हम जानते हैं, सौ में दो ही चार इन्कार करेंगी। मर्द तो इसके लिए धर्म, प्रतिष्ठा, वरंच प्राण को भी नाश कर देते हैं। ससार में ऐसा कोई देश नहीं, जिसमें इसकी इज्जत न हो। हमारे पुराणों में भगवान् की स्त्री का नाम लक्ष्मी है, इस नाते जगत् की माता हुई। अत: उनकी जो प्रतिष्ठा की जाय, थोड़ी है। हमारे सिद्धांत में परमेश्वर को बिना प्रेम वेअदबी का कोई शब्द कहना महापाप है, पर एक फारसी कवि ने द्रव्य (सोना) की प्रशंसा में बहुत ही ठीक कहा है कि "हे सुवर्ण तू स्वयं ईश्वर तो नहीं, पर ईश्वर की शपथ तू प्रतिष्ठा का रक्षक, (पर्दा रखनेवाला) पापों का क्षमा करने

वाला, (दुष्कर्मों से घृणा करनेवाला) और मनोरथों का पूर्ण करनेवाला है—

"ऐ जर तु खुदा नई वलेकिन बखुदा,
सन्तारो गुफूरो काजी उल हाजाती।

हम भी कह सकते हैं कि मरने जीने, दु ख-सुख और नर्क स्वर्ग की एक कुंजी भगवती लक्ष्मी (जरे अलेहुस्साम) के हाथ में भी है। लोग कहते हैं—"जन (स्त्री) जमीन और जर, सब झगडे का घर," पर सच तो यह है कि जमीन तो जर ही का रूपान्तर है, और जन भी पेटभरों के अलवल हैं।

ठीक पूछो तो अनर्थ का मूल यही है। ब्रह्म देश के विषय में हमारी सरकार ने इतनी बदनामी और मुडधुन सहके इस बात को सिद्ध कर दिया कि रुपये के लिए बडे बडों की नियत डिग जाती है। बाप-बेटे, स्त्री पुरुष, भाई भाई में महा विरोध हो जाना इत्यादि अनर्थ लोग सहज कर डालते हैं। फिर "बाप बडा ना भइया, सब से बडा रुपय्या" में क्या सन्देह है। सौ अनर्थ कर डालो, एक आध मंदिर बनवा डालो या भोजन करा दो, कोई कुछ न कहेगा, खरच चाहे सो करो, मुह पर सब चुटकी ही बजावेंगे। फिर "सारे औगुन छिपत हैं, लछमिनिया की ओट ", कौन का डर है। इस दो अक्षर के शब्द से लोग ऐसा गिधे हैं कि जिससे कह दो, सो ना, (सोओ मत) देखो कैसा लीक पांव होता है, कोई तुम्हारा आश्रित है जो डर के मारे तुम्हारी आज्ञा मानेगा, पर कभी २ कोई २ आज्ञा सुनके भीतरी भीतर पच जाता है, पर रात को कुछ काम देर तक करने के पीछे कह दीजिए—सो ना, (सो रहो न) देखो कैसा मगन हो जायगा।

मिडिल-क्लास ।

जो लोग सचमुच विद्या के रसिक हैं उन्हें तो एम० ए० पास करके भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि विद्या का अमृत ऐसा ही स्वादिष्ट है कि मरने के पीछे भी मिलता रहे तो अहो भाग्य पर जो लोग कुछ क, म, घ, सीखके पेट के धंधे से लग जाना ही इतिकर्तव्यता समझते हैं उनके लिए यह मिडिल क्लास भी ऐसी छूत लगा दी गई है कि झींखा करें बरसों ! नहीं तो इन बिचारे दस २ रुपया की पिसौनी करनेवालों को कब जहाज पर चढ़के जगज्जात्रा करने का समय मिलता है जो जुगराफ़िया रटाई जाती है ? कौन दिल्ली और लखनऊ के बादशाह बैठे हैं जो अपने पूर्वजों का चरित्र सुनके खिलअत बख्श देंगे, जो तवारीख में समय की हत्या ली जाती है साधारण नौकर को लिखना-पढना बोलना-चालना, हिसाब किताब बहुत है । मिडिलवाले कोई प्रोफ़ेसर तो होते ही नहीं इन बेचारे पेटार्थियों को विद्या के बड़े २ विषयों में श्रम कराना मानो चींटी पर हाथी का हौदा रखना है ! बिचारे अपने घर से भी गए, बड़े विद्वान भी न भए ! 'मिडल' शब्द का अर्थ ही है अधबिच, अर्थात् आधे सरग, त्रिशंकु की भांति लटके रहें न इत के न उत के ! इससे तो सरकार की मंशा यही पाई जाती है कि हिन्दुस्तानी लोग नौकरी की आशा छोड़ें, पर इस गुलामी के आदियों को समझावे कौन ?

यदि प्रत्येक जाति के लोग अपने सन्तान को मध्य के पहिले निज व्यापार सिखलाया करें तो वे नौकरी पेशों से फिर भी अच्छे रहें । इधर नौकरों की कमी रहने से सरकार भी यह हठ छोड़ बैठे । जिनको स्यानेपन में पढ़ने की रुचि होगी वे क्या

और धंधा करते हुए विद्या नहीं सीख सकते ? पर कौन सुनता है कि "व्यापारे वसते लक्ष्मी", यहां तो बाबूगीरी के वाती भाई कुछ हो, अपनी चाल न छोड़ेंगें ।

भगवति विद्ये ! तुम क्या केवल सेवा ही कराने को हो ? हम तो सुनते हैं, तुम्हारे अधिकारी पूजनीय होते थे । अस्तु, है सो अच्छा ही है । अभागे देश का एक यही लक्षण क्यों रह जाय कि सेवावृत्ति में भी बाधा ! न जाने हर साल खेप की खेप तैय्यार होती है, इन्हें इतनी नौकरी कहां से आवेगी ! सरकार हमारी सलाह माने तो एक और कोई मिडिल पास की पख निकाल दे, जिसके बिना पहरागीरी, खानसामागीरी, घासकटगीरी आदि भी न मिलें । देखें तो कब तक नौकरी के पीछे सखी होते हैं । अरे बाबा यदि कमाने ही पर कमर बांधी है तो घर का काम काटता है ? क्या हाथ के कारीगर और चार पैसे के मजूर दस पद्रह का महीना भी नहीं पैदा करते ? क्या ऐसों को बाबुओं के से कपड़े पहिनना मना है ? वरञ्च देश का बड़ा हित इसी में है कि सैकड़ों तरह का काम सीखो । सार्टीफिकट लिये बगले २ मारे २ फिरने में क्या धरा है, जो सरकार को हर साल इमतिहान अधिक कठिन करने की चिन्ता में फंसाते हो ! बाबूगीरी कोई स्वर्णगीरी (सोने का पहाड़) नहीं है । पास होने पर भी सिफारिश चाहिये तब नौकरी मिलेगी, और यह कोई नियम नहीं है कि मिडिलवाले नौकरी से बरखास्त न होते हों या उन्हें बिना फिक्र नौकरी मिल ही रहती हो । क्यों उतना ही श्रम और काम में नहीं करते ?

खड़ी बोली का पद्य।

इस नाम की बाबू अयोध्या प्रसाद जी खत्री मुजफ़्फ़रपुर, वासी कृत पुस्तक के दो भाग हमें हमारे सुहृद्वर श्रीधर पाठक द्वारा प्राप्त हुए हैं। लेखक महाशय की मनोगति तो सराहना-योग्य है, पर साथ ही असम्भव भी है। सिवाय फ़ारसी छंद और दो तीन चाल की लावनियों के और कोई छद उस में बनाया भी है तो ऐसा है जैसे किसी कोमलांगी सुन्दरी को कोट बूट पहिनाना। हम आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दुजी से बढ़के हिन्दी भाषा का आग्रही दूसरा न होगा। जब उन्हीं से यह न होसका तो दूसरों का यत्न निष्फल है। बांस को चूसने में यदि रस का स्वाद मिल सके तो ईख बनाने का परमेश्वर को क्या काम था। हा उरदू शब्द अधिक म भरके उरदू के ढग का सा मजा हम पा सकते हैं, और उरदू कविताभिमानियों से हम साहकार कह सकते हैं कि हमारे यहां का काव्य भी कुछ कम नहीं है। यद्यपि कविता के लिए उरदू बुरी नहीं है, कवित्व-रसिकों को वह भी बारललना के हावभाव का मजा दे जाती है, पर कवि होते हैं निरंकुश, उनकी बोली भी स्वच्छंद ही रहने से अपना पूरा बल दिखा सकती है। जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतंत्र भाषा में है जो ब्रज भाषा बुंदेलखडी, बैसवारी और अपने ढंग पर लाई गई संस्कृत व फारसी से बन गई है, जिसे चन्द्र से लेके हरिश्चन्द्र तक प्राय. सब कवियों ने आदर दिया है, उसका सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके, यह किसी कवि के बाप की मजाल नहीं। छोटे मोटे कवि हम भी हैं, और नागरी का कुछ दावा

भी रखते हैं, पर जो बात हो ही नहीं सकती, उसे क्या करें। बहुतेरे यह कहते हैं कि ब्रजभाषा की कविता हर एक समझ नहीं सकता। पर उन्हें यह समझना चाहिए कि आपकी खड़ी बोली ही कौन समझ लेता है।

फिर, यदि सबको समझाना मात्र प्रयोजन है तो सीधी २ गद्य लिखिए। कविता के कर्ता और रसिक होना हर एक का काम नहीं है। उन विचारों की चलती गाडी में पत्थर अटकाना, जो कविता जानते हैं, कभी अच्छा न कहेंगे। ब्रजभाषा भी नागरी-देवी की सगी बहिन है, उसका निज-स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छूरी फेरना है। हमारा गौरव जितना इसमें है कि गद्य की भाषा और रक्खें, पद्य की और, उतना एक को बिलकुल त्याग देने में कदापि नहीं। कोई किसी की इच्छा को रोक नहीं सकता। इस न्याय से जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें चाहे कुदावें, पर कवि लोग अपनी प्यार की हुई बोली पर मुसल चलाके उसकी स्वतन्त्र मनोहरता का नाश नहीं करने के। जो कविता के समझने की शक्ति नहीं रखते वे सीखने का उद्योग करें। कवियों को क्या पड़ी है कि किसी के समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।

नागरी-महिमा का एक चोज।

हमारे यहां की बोली का एक यह भी ढंग है कि बहुत शब्दों के साथ आदि में अ, स और कभी कभी फ मिला देते हैं, जिससे एक निरर्थक शब्द बन जाता है; पर अच्छा लगता है। रोटी ओटी, आदमी सादमी इत्यादि। इस रीति से कई भाषाओं के निरर्थक शब्द उन भाषाओं की कलई खोल देते हैं; पर हमारी नागरी-देवी की महिमा ही गाते हैं।

देखो न, अंगरेजी सगरेजी-"संगरेज़ा" कहते हैं पत्थर का महीन टुकड़ा या कंकड़, उसका भी लघु रूप सगरेजी समझ लो, न मानो तो माधुर्य्य का गुण ढूंढ़ो, उसमें कहीं है? टिट्‌ पिट्‌टपट का खर्च है। फारसी-आरसी, (आलसी) सैकड़ों पोथी छान डालो, उद्योग की शिक्षा बहुत कम, जोफ़ नातवानी के मजमून लाखों! अरबी-सरबी (मानी नदारद) उरदू-सुरदू, (मानी नदारद) पर 'पिणी' जोड़ लो तो शूर्पणखा हो जाय।

लेकिन संस्कृत अंस्कृत—जिसमें ईश्वर की महिमा या ऋषियों की उदार बुद्धि का अंश हर तरह मौजूद। नागरी आगरी—आगर सद्‌व्यक्तियों का गुण अथवा सागरी। राम झूट न बुलावै तो इस दीन दशा में भी सब गुण का छोटा सागर ही है। क्यों, कैसी कही?

मरे का मारैं शाह मदार।

चार वर्ष से हम देख रहे हैं कि देशी समाचारपत्रों में, विशेषत. हिन्दी के पत्रों में, जो कुछ धन लाभ होता है, बिचारे सम्पादकों का जी ही जानता है। दु.ख रोना नीति-ग्रन्थों में वर्जित है, पर हम सम्पादक हैं, जब दूसरों के दु ख-सुख, गुण औगुन छाप डालते हैं तो अपने क्यों न कहें? जो सम्पादक अखबार की आड में भिक्षा-भवन करते नहीं शरमाते, धनिकमात्र की झूठी प्रशसा से पत्र भरके सहायता के नाम से मांग जाचकर अपना घृणित जीवन भी निभाते हैं उनकी तो हम कहते नहीं, पर जिन्हें अपनी लेखनी के बल का घमंड है, और यह सिद्धान्त है कि "को देहीति वदत्स्वदग्ध जठरस्यार्थे मनस्वी पुमान", उनको राम ही से काम पडता है।

'रसिक पंच', 'भारतेन्दु', 'उचितवक्ता' इत्यादि उत्तमोत्तम पत्र इसी घाटे की छूत के मारे थोडे ही दिन चलके बद हो गए। हमारे 'ब्राह्मण' का यह हाल है कि हृदय का रक्त सुखा २ के अब तक चलाए जाते हैं। वर्ष भर में डेढसौ रुपया छपवाई और डाक महसूल को चाहिए, और आमदनी इस वर्ष आठ मास में केवल २०) रु० की हुई है। चार वर्ष में दोसौ का कर्जा हुआ है, उसे कुछ भुगता चुके हैं, १५०) भुगतना बाकी है। महीनों से तकादा करते हैं, ग्राहक सुनते ही नहीं। बाजे २ महापुरुषों ने चार बरस में कौडी नहीं दी, बाजे २ दस दस पन्द्रह पन्द्रह, रुपए यों लिए बैठे हैं। महीना दो महीना और देखते हैं, नहीं तो सबकी नामावली छापनी पडेगी। कहा तक मुलाहिज़े के पीछे भार सहें! प्रेसवाले जानते हैं, सम्पादक अमामार हैं। सम्पादक बिचारा नादिहंदों की हत्या अपने सिर

मुड़ियाए है! छापनेवालों का तगादा सुनके लज्जा, क्रोध और चिन्ता खाए लेती है। अपनी गृहस्थी के खर्च में हर्ज सह २ के कुछ देते जाते हैं, और झूठे वादे तथा मनको मार के खुशामद से टाले जाते हैं। भविष्यत् का ज्ञान परमेश्वर को है, क्या जाने, उसकी इस लीला में कौन गुप्त भेद है। पर हमारा विचार यह है कि जैसे तैसे यह वर्ष पूरा हो तो 'ब्राह्मण' को ब्रह्मलोक भेजें, और यथासाध्य नादिहदों से रुपया वसूल करें, फिर वर्ष छ महीने में धीरे २ ऋण हत्या छुडावें। खुशामद होती नहीं, मांगना आता नहीं, फिर यह आशा कैसे करें कि कोई हमारा बोझ हलका करेगा। हंसी-खुशी हमारा मूल्य ही दे दें तो उन्होंने मानो सब कुछ दे दिया। यह सम्पादकों की महाकथा का एक अध्याय संक्षेप से इसलिए सुनाया है कि हम लोगों की दशा सबको विदित हो जाय। हम गंगा में पैठ के कह सकते हैं कि यह झूठ नहीं है।

जबकि हमारे छोटे से पत्र की केवल चार वर्ष में यह गति है तो हमारे मान्यवर "हिन्दी-प्रदीप" का हाल, हम समझते हैं, हमसे भी बुरा होगा। "ब्राह्मण" से दूना उसका आकार है, चौगुनी उसकी आयु है, उसके सम्पादक श्रीबालकृष्ण भट्ट हैं, वह हमसे भी गई बीती दशा में ठहरे, कुटुम्ब बडा, खर्च बडा, सहायक सगा बाप भी नहीं; स्पष्टवक्तापन के मारे जबानी दोस्त भी कोई नहीं। ऐसी हालत में सरकार ने १०) रु० टैक्स के लै लिए। हम क्यों न कहें—"मरे को मारें शाह मदार"। वह विचारे कौन धंधा करते हैं, जो उनपर टिकस! दस रुपये में क्या सर्कार का ख़जाना भर गया! कर्मचारियों की कौन बडी नेकनामी हो गई। कौन तनख्वाह बढ़ गई, कौन पदवी, (ख़िताब), मिल गई। हाय क्या ज़माना है कि

राजा प्रजा कोई गरीबों की हाय से नहीं डरता ! चार बरस हुए, कुछ बदमाशों ने हमारे भट्ट महोदय पर अपनी बदमाशी दरसाई थी तब सहायता किसी ने न की। आज रुपया चूसने को सब तैयार हो गए। इन्साफ यदि कोई वस्तु है तो हम लोगों का रजिस्टर देख लिया जाय। पर कौन सुनता है ! हमारी समझ में यह किसी धूर्त कर्मचारी ने किसी गुप्त बैर का बदला लिया है।

हमारे उत्साह-वर्द्धक।

हम वास्तव में न विद्वान हैं, न धनवान, न बलवान, पर हमारा सिद्धान्त है कि अपने जीवन को तुच्छ न समझना चाहिए; क्योंकि इसका बनानेवाला सर्वशक्तिमान् सर्वोपरि परमात्मा है। इसीसे कभी २ हमारे मुख से मुसहफी का यह वचन उमंग के साथ निकल जाता है कि :—

"जिस तरह सब जहान में कुछ हैं,
हम भी अपने गुमान में कुछ हैं,"।

कुछ न सही, पर कानपूर में कुछ एक बातें केवल हमीं पर परमेश्वर ने निर्भर की हैं, जिनकी क़दर इस जमानेवाले नहीं जानते, पर हम न होगें तब शोक करेंगे ? यदि लोग हमको भूल भी जांयगे तो यहां की धरती अवश्य कहेगी कि हम में कभी कोई खास हमारा था !

पर आज जहां हमको यह सोच है कि हाय कानपुर के हम कौन हैं, इतना भी कानपुर नहीं जानता ! वहां इस बात का हर्ष भी है कि बाहरवालों की दृष्टि में हम निरे ऐसे ही वैसे नहीं हैं। बाजे २ लोग हमें श्रीहरिश्चन्द्र का स्मारक समझते हैं। बाजों का खयाल है कि उनके बाद उनका सा रंग ढङ्ग कुछ इसी में है। हमको स्वयं इस बात का घमंड है कि जिस मदिरा का पूर्ण कुम्भ उनके अधिकार में था उसी का एक प्याला हमें भी दिया गया है, और उसी के प्रभाव से बहुतेरे हमारे दर्शन की, देवताओं के दर्शन की भांति, इच्छा करते हैं। बहुतेरे हमारे वचनों को ऋषि-वाक्य सदृश मान्य समझते हैं। बहुतेरे बड़े २ प्रतिष्ठित शब्दों से नाम लेते हैं। बहुतेरे हमें पत्र लिखते हैं तो गद्य पद्यमय लेखों से अलंकृत

करके लिखते हैं। इस ढङ्ग के पत्रों में एक यह है, जिसके प्रेषक महाशय को हम जानते भी नहीं हैं।

"श्रीयुत कविकुल-मुकुटमणि, पण्डितवर, हिन्दी भाषा भूषण, प्रतिभारतेन्दु रसिकराज, श्री प्रतापनारायण मिश्र समीपेषु निवेदन मिदम्—

हे भाषाचार्य !

"आपसे हिन्दी भाषा-बृहस्पति की स्तुति मुझ सा मदमति क्या कर सकेगा ? नहीं ! नहीं ! नहीं ! फिर बस ! उस परम हृदयगम विषय की इतिश्री यहीं सही !

"आपकी चमत्कृत कृति आपकी केवल एक ही पुस्तक "प्रेमपुष्पावली" में देख पडी; पर उसके पढ़ने से मेरी प्रेम-तृष्णा शतगुणित बढ़ी, अर्थात् आपके अनेक रसमय लेख देखने की अत्युत्कट इच्छा प्रगट हुई है, सो तृप्त करना आप ही से महाशयों का काम है।

"अब मेरी आपसे इतनी ही विनती है कि आपके समग्र लेख, जो "ब्राह्मण," पुस्तक, अथवा अन्यत्र प्रकाशित हुए हों सो सब इस पत्र के देखते ही 'वेल्यूपेबिल पोस्ट' द्वारा इस पते पर भेजिए, और अपना अद्वितीय पत्र "ब्राह्मण" भी सदैव भेजा कीजिए।"

कोल्हापुर
२६-३-८८

आपका दासानुदास,
रायसिंह देव वर्म्मा।

पता—रावसाहब रायसिंह राव स्टेट सरवेयर
कोल्हापुर, (Deckan)

इन्हीं राव साहब का दूसरा पत्र नीचे उद्धृत है। परमेश्वर ऐसे सज्जनों का भला करे। हम खुशामदी नहीं हैं कि

किसी की झूठी प्रशसा करके कुछ ऐंठा चाहें, पर हम कृतघ्न भी नहीं हैं जो अपने हितैषियों को धन्यवाद न दें। इन पत्रों से लोग समझ सकते हैं कि सहृदय, प्रेमी, उदार और सच्चे सज्जन "ब्राह्मण" को कैसा समझते हैं—

"स्वस्तिश्री कविकुल गौरव, भाषाचार्य, प्रतिभारतेन्दु, रसिकमडलीमंडन श्री प्रतापनारायण मिश्र समीपेषु निवेदन मिदम्—हे प्रेमदेव भक्तशिरोमणे !

"आहा हा ! आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!! सहृदयों ने काव्यानन्द को "परमानन्द सहोदर" कहा है, सो सत्य है ! धन्य आज का दिन ! धन्य आज की घड़ी ! कि जिसमें "ब्राह्मण" की बगी (पारसल) आन पहुची ! खोलके देखते ही उसके चतुर्थ खंड की द्वितीय सख्या हाथ लगी। प्रथम पृष्ठ ही पर "द" देखकर पढना आरम्भ किया ! क्या कहू, उसकी लिखावट को ? कुछ कहते बनता ही नहीं ! ऐसी अनूठी हिन्दी पद्मिनी मैंने—अर्थात् महाराष्ट्ररूपी हफ-सान बासी हतभागी ने कि जो सदा सर्वदा काली कलूटी, कुरूपा हिन्दुस्तानी, जो न हिन्दी न मुसलमानी, मुंह में खाने की निशानी देखता भालता और बोलता है—काहे को कभी देखी थी !

"महाशय ! आपको तो "द" की दास्तान दु:सह जान पडी, पर मुझको तो उसने ऐसे रूप, रग, राव, चाव, हाव, भाव दिखलाए कि मेरा मन भ्रमर सब सुध भूल गया। वह प्रत्यक्षर में मधुपान करते २ छक गया। यहां तो ऐसी उलटी गति चल निकली कि "या कांटे मो पाय गडि लीन्हीं मरत जिआय" !

"द" की जादूभरी दास्तान दूर होते ही 'उर्दू बीबी की पूंजी' देख पड़ी। उस सडी बेसवा के अन्दर की भीतरी पोल

जान पड़ी, और उसी के साथ नागरी देवी की प्रभा खुल पड़ी। द्वितीय संख्या अधूरी छोड़ तृतीया को हाथ में लिया। प्रथम पत्र के उलटते ही नागरी की "माँ" पर दृष्टि पड़ी, फिर क्या पूछना? नागरी गुण-आगरी की मन मोहकला खबर पड़ी! बस! अब तो प्रेम-बंधन में बंध गए। अब न इससे छुटकारा है, न कुछ चारा है!

"मेरी प्रेमेच्छा इस प्रेमाधिकारी "ब्राह्मण" के गले पड़ी। मैं हक्का बक्का हो मुंह ताकते ही रह गया। जब होश में आया तब बस (प्रेमेच्छा) से कहा हे निर्लज्जे! कुछ तो धीरज धरती, थोड़ा तो विचार करती, अरी गंवारी कहां तो यह ब्राह्मणोत्तम, और कहां तू 'क्षत्रात्मजा, लघुतमा' 'कहां राजा भोज कहां भोजवा तेली'! उसने (अर्थात् प्रेमेच्छा ने) उत्तर दिया कि "क्यों कलिकाल के फेरे में पड़कर प्रेमरस में विष मिलाते हो? ब्रह्म, क्षत्र का मूल तो एक है न। आज तक कितनी क्षत्र-कन्याएं ब्रह्माद्धांगिनियां होती आई हैं। तिस पर इस प्रेम पथ में जात पांत का बखेड़ा क्या?"

"इसके सुनते ही मैं निरुत्तर तो हुवा सही, पर इस दुबले पतले 'ब्राह्मण' का डील-डौल देखके और उसके उ.द्गार सुनके सशंक होके मैंने कहा,—"अरी लड़की! इस परदेशी द्विजवर का कुम्हलाया हुवा कमल-वदन भी देखती है कि इसके प्रेम ही पर लट्टू हो अपना सर्वस्व खोती है। यह तो अब तब का हो रहा है, क्यों नाहक सौभाग्य के साथ ही वैधव्य को बुलाती है? तेरे लिलार ही में पति का सुख नहीं लिखा सो तुझको कैसे प्राप्त होगा? इससे तो सदा कुमारी ही रहना बेहतर है।" बालिका बोल उठी—"क्यों ऐसे कुतर्क करते हो? सावित्री के पति प्रेम पुनीत्व ही ने उसके प्राण

प्यारे को जमजाल से छुड़ाया था, वरन् दीर्घायु कर छोड़ा था। फिर मेरे भाग्य का लिखा तुमने कैसे बांचा ? प्रेमदेव की कृपा से मेरा भी अहिवात अवश्य ही अचल होगा, बस! हो चुका, टरा मिटा!

"हे प्रेम सर्वस्व प्रताप मिश्रजी! आपके 'ब्राह्मण' रूपी पुत्र की वधू मेरी हृदयजा प्रेमेच्छा हो चुकी। लीजिए, यह मेरी लाली पाली हुई बालिका आपकी सेवा में आती है। यद्यपि आप कनौजिया हैं तो भी 'दहेज' की आशा छोड़ इस प्रेम विवाहिता पतोहू को प्रेम पुरस्सर स्वीकार कीजिए। अब आप हमारे समधी ठहरे, इसलिए इस बार प्रथम भेंट आपके लिए पांच रुपया भेजता हूं, और अपने 'दामाद' (अर्थात् 'ब्राह्मण') के वास्ते हर साल पांच से पचास तक दिया करूंगा, क्योंकि अपनी बालिका आपके हवाले की है। अब आपको भी यही उचित है कि अपने पुत्र का पूर्णोत्साह से प्रतिपालन करें, नहीं तो आपके माथे ब्रह्म हत्या तथा पुत्र हत्या का पातक चढ़ेगा। जन्म देना सहज है, पर उस जन्मे हुए का भरण-पोषण, प्रतिपालन करना परम कठिन है।

"यद्यपि मुझको दो ढाईसौ रुपया मासिक मिलता है, तथापि बड़ा परिवार रहने के कारण आय-व्यय बराबर हो जाता है। नहीं तो मैं अकेला ही अपने दामाद को पोसता। अस्तु, यह प्रेम-कहानी यहीं समाप्त करता हूं। इस तुच्छतम लेख को यदि आप छापना चाहें तो शुद्ध करके छापें।"

आपका परम हितेच्छु—

प्रेम दासानुदास,

रायसिंह देव वर्मा।

कोल्हापुर (दक्षिण)

परम धन्य है ऐसे पुरुष-रत्नों के पवित्र जीवन को जो नागरी-देवी के इतने बड़े बड़े भक्त हैं, और प्रेम के इतने तरवश हैं कि एक एक लेख पर इतना शीघ्र प्रेम जाल में फस जाते हैं। धन्य प्रेम !

यद्यपि हमें अपनी ओर से कुछ भी आशा नहीं है, पर हम प्रेमी हैं, इससे दृढ़ विश्वास रखते हैं कि महानुभाव राव साहब की प्रेमेच्छा-देवी के केवल आशीर्वाद से 'ब्राह्मण' के चिरायु होने की कोई सूरत निकल आना आश्चर्य की बात नहीं है।

पाच या पचास के लिए हाथ फैलाते हमें लज्जा आती है, पर ऐसे प्रेम से कोई एक कौडी भी दे तो हम क्या हैं, शायद परमेश्वर भी हाथ पसारके लेंगे ! दूसरा पांच हज़ार भी दे तो हम आजकल की सी दशा में ले तो लेते, पर इस भाव से कभी न लेते, क्योंकि हम प्रेम-भिक्षुक हैं।

"ब्राह्मण" को बन्द करने में परमेश्वर साक्षी है कि हमें पुत्रशोक से कम शोक न होगा, पर हत्यारे नादिहन्दों ने हमें लाचार कर दिया है ! इसका सविस्तर हाल "ब्रह्मघाती" नामक पुस्तिका में लिख रहे हैं, पर दो महीने बाद छपावेंगे। अभी इससे नहीं छपा सकते कि शायद पीछे से दो चार नाम काटने पड़ें। "ब्राह्मण" को जिस तरह आजतक चलाया है, हमी जानते हैं।

सहृदयों और प्रेमियों का आय-व्यय तो सदा ही बराबर हो जाता है। रुपया जोड़ने के लिए चाहिये—धर्म, कर्म, लज्जा, प्रतिष्ठा, आमोद, प्रमोद, शील, संकोच सब आले पर रख दिये जाय, सो प्रेम सिद्धान्ती से हो नहीं सकता।

हम कदापि नहीं चाहते कि कोई महाशय अकेले "ब्राह्मण" का भार अपने माथे ले लें, पर केवल हमारे ही माथे रहना भी असह्य है। यदि कोई भी सचमुच कटी अंगुली पर मूतने वाला होता तो हम क्यों झींखते। परमेश्वर रावसाहब का भला करें, जिन्हों ने हमें इस महाविपत्ति में सहारा दिया।

हम ऋषि नहीं हैं कि अपनी स्तुति से प्रसन्न न हों, हम ऐसे बौडम, उजड्ड, असभ्य नहीं हैं कि अपने दयालुओं को धन्यवाद-आशीर्वाद न दें। हमारा उत्साह बढ़ता है, और चित्त को चाव होता है कि हमारे गुणग्राहक भी हैं, और साधारण लोग नहीं बडे २ सत्पुरुष हम पर अनुग्रह करते हैं! बहुत थोडे से, पर बडे बडे लोग हमें नीचा दिखाने की फिक्र में भी रहते हैं! हम पर डाह भी करते हैं! पर हमारे हृदयविहारी की दया से आजतक कुछ कर नहीं सके! यद्यपि हमको देव ने इतनी सामर्थ्य नहीं दी कि हम अपने मनोर्थ को ठीक २ पा सकें, पर इस दीनहीन दशा में हम कुछ हैं, इसका कारण जहा तक सोचते हैं यही पाते हैं कि प्रेम के दो अक्षर! और कुछ नहीं! अहह!

> क्या क्या करूं मैं शुक्र खुदाए कदीर का,
> बख्शा है मुझ फ़कीर को रुतबा अमीर का।

धन्य, प्रभो !! प्रेम देव !!!

वाजिदअलीशाह ।

हाय ! आज हमीं नहीं रो रहे हैं, हमारी लेखनी का भी हृदय विदीर्ण हो रहा है ! मसी मत समझो, मारे दुःख के उन्माद हो रहा है, इससे रक्त काला पड़ गया है, और आसुओं के साथ नेत्र-द्वारा बहा जाता है ! हमारा कानपुर यवनों का नगर नहीं सही, पर लखनऊ यहां से दूर नहीं है, बरंच यहां से सहस्रों सम्बन्ध रखता है। फिर क्यों न लखनऊ के साथ इसे भी शोक हो। सम्पादक और उसके मित्र श्री बाबू राधेलाल आदिक कई लोग प्रत्यक्ष अश्रु-वर्षा कर चुके हैं। यह बात किसी के देखाने को नहीं, बरंच हृदय के सच्चे संताप से थी। हाय शाह वाजिदअली ! हा सुलताने आलम ! हा अख़तर ! हाय सूबे अवध के कन्हैया ! तुम हमारा शासन न करते थे, तुम हमारी जाति के न थे तो भी, हमारा बादशाह कलकत्ते में बैठा है, यह स्मरण हमारे लिए सन्तोषजनक था। तुम्हारा अंतःकरण हमसे ममता रखता था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पर हाय ! दुष्ट दैव से इतना भी न देखा गया, मूर्ख, खुशामदी और अपने दुर्गणों से भी पराए सद्गुण तक को तुच्छ समझनेवाले चाहे जो कुछ झख मारें, पर हम भली भांति जानते हैं कि तुम्हारे दोष भी मनुष्य-जाति की अपूर्ण शक्ति से अधिक कुछ न थे। तुमने अपनी प्रभुता के समय हिन्दू मुसलमान दोनों को अपनी प्यारी प्रजा समझा है। यह तुम्हारा एक गुण ऐसा है कि यदि तुम में सचमुच के सहस्र दोष भी होते तो भस्म कर देता। जो मूर्ख और दुष्ट लोग अपने मतवालेपन से दूसरों के पूज्य पुरुषों की निन्दा

और उनसे घृणा किया करते हैं उनसे तुम लाखों कोस दूर थे। सहस्त्रों लोगों का रक्त बहेगा, सहस्रों ललनाओं का अहिवात जाता रहेगा, इस भय से अपने तई प्रसन्नतापूर्वक दूसरों के हाथ में सौंप दिया। यह गुण तुम्हारा हमारे हृदय को प्रफुल्लित करता है। गुण-ग्राहकता, आश्रित पोषकता और दुःख-सुख दोनों में एकरसता आदि के कारण तुम प्रेम समाज के प्रातस्मरणीय हो। सितम्बर की २१ तारीख तुम्हारे वियोग का दिन है, अतः सहृदयों को दुःखदाई होगी। कहां तक लिखें, शोक के मारे तो अधिक विषय सूझते ही नहीं। इस दशा में भी सहस्रों के पेट तुम्हारे अनुग्रह से पलते थे, हाय ! आज उनके चित्त की क्या दशा होगी !!

द्वितीय परिच्छेद ।

सामयिक लेख ।

स्वतंत्र ।

हमारे बाबू साहब ने बरसों स्कूल की खाक छानी है, बीसियों मास्टरों का दिमाग चाट डाला है, विलायतभर के ग्रन्थ चरे बैठे हैं, पर आज तक हिस्ट्री, जियोग्रफी आदि रटाने में विद्या-विभाग के अधिकारीगण जितना समय नष्ट कराते हैं, उसका शतांश भी स्वास्थ्य रक्षा और सदाचार शिक्षा में लगाया जाता हो तो बतलाइए! यही कारण है कि जितने बी० ए०, एम० ए०, देखने में आते हैं उनका शरीर प्राय ऐसा ही होता है कि आंधी आवे तो उड़ जाय। इसी कारण उनके बड़े २ खयालात या तो देश पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालने पाते या उलटा असर दिखाते हैं। क्योंकि तन और मन का इतना दृढ़ सम्बन्ध है कि एक बेकाम हो तो दूसरा भी पूरा काम नहीं दे सकता, और यहां देह के निरोग रखने-वाले नियमों पर आरम्भ से आज तक कभी ध्यान ही नहीं पहुंचा। फिर काया के निकम्मेपन में क्या सन्देह है, और ऐसी दशा में दिल और दिमाग निर्दोष न हों तो आश्चर्य क्या है! ऊपर से आपको अपने देश के जल-वायु के अनुकूल आहार-

विहार आदि नापसंद ठहरे। इससे और भी तन्दुरुस्ती में नेवर का शाप लगा रहता है। इस पर भी जो कोई रोग उमड़ आया तौ चौगुने दाम लगाके, अठगुना समय गवाके विदेशी ही औषधि का व्यवहार करेंगे, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से चाहे अच्छा भी दिखाई दे, पर वास्तव में धन और धर्म ही नहीं, वरंच देशीय रहन सहन के विरुद्ध होने से स्वास्थ्य को भी ठीक नहीं रखता, जन्म रोगीपने की कोई न कोई डिग्री अवश्य प्राप्त करा देता है।

यदि सौ जैंटिलमैन इकट्ठे हों तो कदाचित् ऐसे दस भी न निकलेंगे जो सचमुच किसी राजरोग की कुछ न कुछ शिकायत न रखते हों। इस दशा में हम कह सकते हैं कि आप रूप का शरीर तो स्वतंत्र नहीं है, डाक्टर साहब के हाथ का खिलौना है। यदि भूख से अधिक डबल रोटी का चौथाई भाग भी खा लें वा ब्राण्डी देवी का चरणोदक आधा आउंस भी पी लें तो मरना जीना ईश्वर के आधीन है, पर कुछ दिन वा घंटों के लिए जमपुरी के फाटक तक अवश्य हो आवैंगे, और वहां कुछ भेंट चढ़ाए और 'हा हा, हू हू' का गीत गाए बिना न लौटेंगे। फिर कौन कह सकता है कि मिस्टर विदेशदास अपने शरीर से स्वतंत्र हैं?

और सुनिए, अब वह दिन तो रहे ही नहीं कि देश का धन देश ही में रहता हो, और प्रत्येक व्यवसायी को निश्चय हो कि जिस वर्ष धंधा चल गया उसी वर्ष, वा जिस दिन स्वामी प्रसन्न हो गया उसी दिन, सब दु:ख-दरिद्र टल जायंगे। अब तो वह समय लगा है कि तीन खाओ तेरह की भूख सभी को बनी रहती है। रोज़गार-व्यवहार के द्वारा साधारण रीति

निर्वाह होता रहे, यही बहुत है। विशेष कार्यों में व्यय करने के अवसर पर आज कल सैकडा पीछे दश जने भी ऐसे नहीं देख पडते जो चिंता से व्यस्त न हो जाते हों। इस पर भी हमारे हिन्दुस्तानी साहब के पिता ने सपूतजी के पढाने में भली चगी रोकड उठा दी है।

इधर आपने जब से स्कूल में पाव रक्खा है तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत डालके खर्च बढ़ा रक्खा है। यो लेकचर देने में चाहे जसो सुन लीजिए, पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार ही का पाइएगा! इस पर भी ऐसे लोगों की सख्या इस देश में अब बहुत नहीं है, जो बाप धूपे बिना अपना तथा कुटुम्ब का पालन कर सकते हों। इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पडता है, सो और कुछ न कर सकते हैं, न करने में अपनी इज्जत समझते हैं। अब हेर फेरकर नौकरी ही की शरण सूझती है। वहा भी काले रग के कारण इनकी विद्या बुद्धि का उचित आदर नहीं। ऊपर से भूख के बिना भोजन करने में स्वास्थ्य नाश हो, खाने के पीछे झपट के चलने से रोगों की उत्पत्ति हो, तो हो, पर ड्यूटी पर ठीक समय में न पहुचें तो रहें कहा?

बाज़े २ महकमों में अवसर पडने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी, पर छुट्टी का यत्न करें तो नौकरी ही से छुट्टी हो जाने का डर है। इस पर भी जो कहीं मालिक कडे मिजाज का हुवा तो और भी कोढ़ में खाज है, पर उसकी झिडकी आदि न खाएं तो रोटी ही कहां से खाएं? यह छूतें न भी हों तो भी नौकरी की जड़ कितनी? ऐसी २ बातें

बहुधा देखकर कौन न कहेगा कि काले रंग के गोरे मिज़ाज वाले साहब अपने निर्वाहोपयोगी कर्तव्य में भी स्वतंत्र नहीं हैं।

अब घर की दशा देखिए तो यदि कोऊ और बड़ा बूढ़ा हुवा, और इनका दबैल न हुवा तौ तो जोभ से चिट्ठी का लिफाफा फाटने तक की स्वतंत्रता नहीं। बाहर भले ही जाति, कुजाति, अजाति के साथ भच्छ, कुभच्छ, अभच्छ भच्छन कर आवें पर देहली पर पांव धरते ही हिन्दू आचार का नाट्य न करें तो किसी काम के न रक्खे जायें। बहुत नहीं तो वाक्य-बाणों ही से छेद्‌के छलनी कर दिए जाय। हयादार को इतना भी थोड़ा नहीं है। हां यदि 'एक लज्जाम्परित्यज त्रैलोक्य विजयी भवेत्' का सिद्धान्त रखते हों, और खाने भर को कमा भी लेते हों वा घर के करता धरता आपही हों तो इतना कर सकते हैं कि वधूजन कोई सुशिक्षा दें तो उनको डांट लें, पर यह मजाल नहीं है कि उन्हें अपनी राह पर ला सकें, क्योंकि परमेश्वर की दया से अभी भारत की कुलांगनाओं पर कलियुग का पूरा प्रभाव नहीं हुवा। इससे उनमें सनातनधर्म, सत्कर्म, कुलाचार, सुव्यवहार का निरा अभाव भी नहीं है।

आप-सरूप भले ही तीर्थ, व्रत, देव, पितर आदि को कुछ न समझिए पर वे नंगे पांव माघ मास में कोसों की थकाहट उठाकर गंगा-यमुनादि का स्नान अवश्य करेंगी, हरतालिका के दिन चाहे बरसों की रोगिणी क्यों न हों, पर अन्न की कणिका वा जल की बूंद कभी मुंह में न धरेंगी, रामनौमी, जन्माष्टमी, पितृविसर्जनी आदि आने पर, चाहे जैसे हो, थोड़ा बहुत धर्मोत्सव अवश्य करेंगी। सच पूछो तो आर्यरत्न की स्थिरता में वही अनेकांश श्रद्धा दिखाती हैं, नहीं

आपने तो छत्तीसाक्षरी मंत्र पढ़कर चुरुटाग्नि में सभी कुछ स्वाहा कर रक्खा है।

यद्यपि गृहेश्वरी के यजन-भजन का उद्देश्य प्राय आप ही के मंगलार्थ होता है, पर आप तो मन और वचन से इस देश ही के न ठहरे। फिर यहांवालों के आंतरिक भाव कैसे समझें? बन्दर की ओर बरफी लेकर हाथ उठाओ तो भी वह ढेला ही समझ कर खी, खी, करता हुआ भागेगा! बिचारी सीधी सादी अबला बाला ने न कभी विधर्मी शिक्षा पाई है, न मुह खोलके कभी मरते २ भी अपने पराए लोगों में नाना भांति की जटल्लें कहने सुनने का साहस रखती हैं। फिर बाबू साहब को कैसे लेक्चरबाजी करके समझा दें कि तोता मैना तक मनुष्य की बोली सीखके मनुष्य नहीं हो जाते, फिर आपही राजभाषा सीख कर कैसे राजजातीय हो जायगे? देह का रंग तो बदल ही नहीं सकते, और सब बातें क्यों कर बदल लीजिएगा? हां, दूसरे की चाल चलकर कृतकार्य तो कोई हुआ नहीं, अपनी हंसी कराना होता है वही करा लीजिए।

अब यहां पर विचारने का स्थल है कि जहां दो मनुष्य न्यारे २ स्वभाव के हों, और एक की बातें दूसरे को घृणित जान पडती हों वहां चित्त की प्रसन्नता किस प्रकार हो सकती है। स्त्री चाहे धर्म के अनुरोध से इनकी कुचाल का सहन भी कर ले, पर लोक लज्जा के भय से गले में हाथ डालके सैर तो कभी न करेगी, और ऐसा न हुआ तो इनका जन्म सफल होना असम्भव है! इससे मन ही मन कुढ़ने वा घात २ पर खौं खियाने के सिवा कुछ बन नहीं पडता, फिर कैसे कहिए कि आप अपने घर में स्वतन्त्र हैं!

में स्वतन्त्र नहीं, कोई प्रबल मनुष्य, पशु वा रोग आ घेरे तो जान बचाने में स्वतन्त्र नहीं, मरने जीने में स्वतन्त्र नहीं, कहाँ तक कहिए, अपने सिर के एक बाल को इच्छानुसार उजला काला करने में स्वतन्त्र नहीं, जिधर देखो परतन्त्रता ही दृष्टि पड़ती है पर आप अपने को स्वतन्त्र ही नहीं, वरंच स्वतन्त्रता का ठेकेदार और प्रचारकर्ता माने बैठे हैं! क्या कोई बतला सकता है कि यह माया-गुलाम साहब किस बात में स्वतन्त्र हैं?

हां, हमसे सुनो, आप वेद-शास्त्र पुराणादि पर राय देने में स्वतन्त्र हैं, संस्कृत का काला अक्षर नहीं जानते, हिन्दी के साहित्य को खाक धूल नहीं समझते, पर इसका पूरा ... रखते हैं कि वेद पुराने जंगलियों के गीत हैं, वा पुराण स्वार्थियों की गढ़ी हुई झूठी कहानियां हैं, धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों का पक्षपात भरा हुआ है, ज्योतिष तथा मन्त्र-शास्त्रादि ... विद्या है। ऐसी २ बे सिर पैर की सत्यानाशी रागिनी अ... पने में स्वतन्त्र हैं। यदि ऐसी बातें इन्हीं के पेट में बनी रहें ... भी अधिक भय नहीं है, समझनेवाले समझ लें कि थोड़े ... आत्मिक रोगी भी देश में पड़े हैं, उनके लुढ़कते ही 'खस्म ... जहान पाक' हो जायगा। पर यह स्वतन्त्रता के भुक्खड़ व्याख्या... और लेखों के द्वारा भारत-सन्तानमात्र को अपना पिछ... बनाने में सयत्न रहते हैं, यही बड़ी भारी खाध है।

यद्यपि इनके मनोरथों की सफलता पूरी क्या ... भी नहीं हो सकती, पर जो इन्हीं के से कच्ची खोपड़ी ... विलायती दिमागवाले हैं, वह बकवास सुनते ही ... गेली चाल में दृढ़ हो जाते हैं, और 'थोंहीं ... ऊपर से मैया आगया' का ... बन बैठते ... रीति से ऐसों की संख्या ... बढ़ ...

म्भव है कि योंही ढचरा चला जाय तो और भी बढ़कर भारतीयत्व के पक्ष में बुरा फल दिखावै।

यहीं विदेश के बुद्धिमान तनिक भी हमारे सद्विद्या-भंडार से परिचित होते हैं तो प्राचीनकाल के महर्षियों की बुद्धि पर बलि २ जाते हैं, वरंच बहुतेरे उनकी आज्ञा पर भी चलने लगते हैं, और इसके पुरस्कार में परमात्मा उन्हें सुख सुयश का भागी प्रत्यक्ष में बना देता है, तथा परोक्ष के लिए अनन्त मङ्गल का निश्चय उनकी आत्मा को आप हो जाता है। यह देखकर भी जिस हिन्दू की आखें न खुलें, और इतना न सूझे कि जिन दिव्य रत्नों को दूर २ के परीक्षक भी गौरव से देखते हैं, उन्हें काच बतलाना अपनी ही मनोदृष्टि का दोष दिखलाना वा अपने अग्रगन्ता की अतिमानुषी बुद्धि का वैभव जतलाना है, और जो ऐसा साहस करने में स्वतन्त्र बनता है उसके लिए विचारशीलमात्र कह सकते हैं कि यह स्वतन्त्रता एक प्रकार का मालीमूलिया (उन्माद) है, जिसका लक्षण है—किसी बात वा वस्तु को कुछ का कुछ समझ लेना, वा बिन जानी बात में अपने को ज्ञाता एवं शक्ति से बाहर काम करने में समर्थ मान बैठना।

यह रोग बहुधा मस्तिष्क-शक्ति की हीनता से उत्पन्न होता है और बहुत काल तक एक ही प्रकार के विचार में मग्न रहने से बद्धमूल हो जाता है। आश्चर्य नहीं कि स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्राचारियों ही की बातें लड़कपन से सुनते २ और अपनी रीति नीति का कुछ ज्ञान गौरव न होने पर दूसरों के मुख से उनकी निन्दा सहते २ ऐसा भ्रम हो जाता हो कि हम स्वतन्त्र हैं, तथा इस स्वतन्त्रता का परिचय देने में और ठौर सुभीता न देखकर आर्षीय पुस्तकों ही के सिद्धान्तों पर मुंह

मारना सहज समझकर ऐसा कर उठाते हों। इससे हमारी समझ में तो और कोई स्वतत्रता न होने पर केवल इसी रीति की स्वतत्रता को दिमाग का खलल समझना चाहिए। फिर भला जिनके विषय में हम इतना थक गए वह बुद्धि विभ्रम के रोगी हैं या स्वतत्र हैं ?

परतत्रता के जो २ स्थान ऊपर गिना आए हैं इस ढंग के स्थलों पर स्वतत्रता दिखावें तो शीघ्र ही धृष्टता का फल मिल जाता है। इससे स्वतत्र नहीं बनते। यदि परमेश्वर हमारा कहा मानें तो हम अनुरोध करें कि देव, पितृ, धर्म-ग्रन्थादि की निन्दा जिस समय कोई करे उसी समय उसके मुंह में, और नहीं तो एक ऐसी फुड़िया ही उपजा दिया कीजिए, जिसकी पीड़ा से दो चार दिन नींद भूख के लाले पड़े रहें, अथवा पचों में हमारा चलता हो तो उन्हीं से निवेदन करें कि निंदकमात्र के लिए जातीय कठिन दड ठहरा दीजिए, फिर देखें बाबू साहब कैसे स्वतत्र हैं!

इनकमटैक्स ।

यदि इस शब्द का यही अर्थ है कि "आमदनी पर महसूल" तो न जाने हमारी सरकार ने हम लोगों की किस आय की वृद्धि देखी है जो यह दुःखद कर बाधा है ! पुराने लोगों से सुनते हैं कि "उत्तम खेती मध्यम बान अधम चाकरी भीख निदान", पर इस काल में यह कहावत पूर्ण रूप से उलट गई है। खेती की दशा पर हमें कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो चाहे दिहात में जा के देख ले, बिचारे कृषिकारों के बारहों मास दिन रात के कठिन परिश्रम करने और 'नींद नारि भोजन परिहरई' का ठीक नमूना बनने पर भी पेट भरना कठिन हो रहा है ! क्या जाने, किसी भविष्यत्-ज्ञानी कवि ने आजकल की दशा पहिले से सोचके मद्य और विष पान करने के बराबर ही हल-ग्रहण को भी त्याज्य समझा हो, और "हालाहल हलाहलम्" लिखा हो।

उससे उतरके व्यापार समझा जाता था, सो कुछ कहना ही नहीं। हर शहर के प्रत्येक रुजगारी की दशा सरकार को हम यों नहीं समझा सकते, जब तक न्याय दृष्टि से स्वयम् कुछ दिन किसी बाज़ार का वह गुप्त रूप न देखें। हम जितनी बड़ी २ दुकानें देखते हैं सभी भांय २ होती हैं। जिन्होंने हजारों रुपया अटका दिया है उनको ब्याज भी कठिन हो रहा है। दिवाले निकलना खेल सा हो गया है। अमीर कहाते हैं वे फी सैकड़ा दो तीन से अधिक न होंगे, जिन्हें रोजगार पेटे कुछ मिल रहता है, नहीं तो केवल पूर्व सञ्चित द्रव्य ही से पुरानी साख बांधे बैठे हैं। ऐसा कोई कार ही नहीं, जो सरकार ने निज-हस्तगत न कर लिया हो। इस हालत में

बिचारे छुटभइये लाइसेन्स और चुंगी के डर से, पहिले तो कुछ करी नहीं सकते, यदि कुछ करें तो तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी रहती है।

हमारा कानपुर जो अब से दस वर्ष पहिले था, अब नहीं रहा। यह तो रोज सुन लीजिए कि आज फलाने बिगड़ गये, पर यह सुनने को हम मुद्दत से तरसते हैं कि इस साल फलाने इस काम में बन बैठे। जब आमदनी के इन उत्तम और मध्यम मार्गों की यह दशा है तो सेवा वृत्तियों का कहना ही क्या? सैकड़ों पढ़े लिखे मारे २ फिरते हैं, बिना सिफारिश कोई सेंत नहीं पूछता। कुछ मिडिल क्लास की पास, कुछ बेकदरी के बायस से बिचारे बाबू लोग महगी कैसे मजदूर उतराते फिरते हैं। कहार ढूढो तो मुश्किल से मिलें, नाच बाच के लिए वेश्या बडे नखरे से आवे, पर हमारे 'इन्लाइटेन्ड' भाई से झूठ मूठ भी कहि देव कि फ़लानी जगह एक हेड की जरूरत है, बस, एक के बदले पचास, चुगा फलकारते, मुरैठा सम्हालते मौजूद हैं। अगले लोग जिस नौकरी को निकृष्ट-वृत्ति और शूद्र का काम समझते थे उसकी लालसा बडे २ वाजपेयी ऐसी रखते हैं जैसी मतवाले भाई मुक्ति की न रखते होंगे। वह नौकरी जिनको महादेवजी की दया से मिल भी गई है, उन्हें बबुआई की ठसक मारे डालती है। सुनते हैं, आगे चार रुपया महीने का नौकर अपने कुटुम्ब के सिवा दो चार और आश्रितों का भरण-पोषण कर लेता था, पर हमको इस का निश्चय क्यों कर हो, जब देखते हैं कि सौ २ दो सौ के नौकर भी, राम झूठ न बुलावै, सौ पीछे पचहत्तर तो अवश्य ऐसे होंगे जिनको हज़रत ग़ालिब का यह वाक्य अनुभूत सिद्धान्त है :—

"यस कि लेता हूं हर महीने कर्ज,
और रहती है सूद की तकरार,
मेरी तनख्वाह में तिहाई का,
हो गया है शरीक साहूकार"।

तौ भी धन्यवाद है कि खितिहरों और लालों से फिर भी बाबूजी बाबू तो कहाते हैं। हां, प्रोहत, पाधा, पडा और गया वाल इत्यादि की दशा कुछ अच्छी कह सकते थे, क्योंकि उन्हें बेमेहनत घर बैठे लक्ष्मी आती है, और हमारी उपर्युक्त लोकोक्ति भी यों ठीक होती है कि—

"उत्तम भिक्षा वृत्ति है, फिरि बघुआई जान,
अधम वनिज वैपार है, खेती खोटि निदान"।

पर नहीं, जब यह विचार होता है कि कृषक, व्यापारी अथवा सेवकों की यही गति रही तो कहां से किसी को कुछ दे सकेंगे। बस, अब हमारा यह सिद्धान्त सत्य होने में किसी को कुछ सन्देह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमानों के सातसौ वर्ष के प्रचण्ड शासन द्वारा न फैला था, उतना, वरन् उससे अत्यधिक, इस नीतिमय राज्य में विस्तृत है। अब बतलाओ, पाठकगण! इनकमटैक्स का फोरस्थ अर्थ ठीक है या नहीं? नहीं, इसका अर्थ यों न लगैगा।

अंग्रेजी व्याकरण खोलो, उसमें लिखा है कि "इन" "अन" और "डिस" किसी शब्द के प्रथम जोड दो तो उलटा अर्थ हो जाता है। Direct डाइरेक्ट—सीधा, Indirect इनडाइरेक्ट—जो सीधा न हो, Known नोन ज्ञात, Unknown अननोन—अज्ञात, Mount माउन्ट—चढ़ना, डिसमाउन्ट—उतरना, इस रीति से in इन, अर्थात् नहीं है, come कम—आना-

आमद, Tax (टैक्स) कर। भावार्थ यह हुआ कि जिस हालत में आमदनी न हो उसमें जो टैक्स लगे वह "इनकमटैक्स" है! इस पर यदि हमारे अंग्रेज़ी जाननेवाले पाठक यह कहें कि ऊट-पटांग अर्थ किया है, और केवल नागरी-नागर समझें कि अन्य भाषा का अर्थ असम्बद्ध है, हिन्दी पत्र में क्यों लिखा? उनको यों समझना चाहिए कि हमारी सरकार को ब्रह्मदेश की आमदनी अनायास हाथ लगी है, इसकी खुशी में हम पर यह टैक्स (बहुत खुश हुए तो ईंट फेंक मारी,) न्यायेन लगाया गया है।

कुछ हो, हम समझें वा न समझें, पर सरकार की किसी बात में रोना चिल्लाना वा तर्क करना योग्य नहीं, केवल "हकिनेच्छा बलीयसी" कहके सतोष करना चाहिए था, पर क्या करें, सम्पादक धर्म तो परम कठिन है। इसमें बिना कुछ कहे उमग की हत्या होती है। इससे कोई सुने वा न सुने, पर हम हाथ जोडके, पायँ पडके, दाँत दिखाके, पेट खलाके यही विनय करते हैं कि अस्तु, हुआ सो हुआ, हमें क्या, जहा और सब प्रकार के राज दड हैं वहा एक यह भी सही, बरच और हो (परमेश्वर न करे) तो वह भी सही; पर इसकी तजवीज (जाच) जरा न्यायशील पुरुषों को सौंपी जाय तो भी बडी दया हो। हमने कई विश्वस्त लोगों से सुना है कि देहात में बिचारो की वार्षिक आय पांच सौ भी नहीं है, उनको केवल उजले कपडों के कारण पांच हजार का पुरुष तजवीज़ करते हैं। यदि यही दशा रही तो भारत के गारत होने में कोई सन्देह न होगा। हमारी सर्कार सब विचार देखे कि अब हम वह नहीं रहे।

देशी कपड़ा।

मानव जाति का, खाने के उपरान्त, कपड़े के बिना भी निर्वाह होना कठिन है। विशेषतः सभ्यदेश के भोजन, छादन, रोटी कपड़ा, नानो नफक इत्यादि शब्दों से ही सिद्ध है कि इन दोनों बातों में यद्यपि खाने बिना जीवन रक्षा ही असम्भव है, पर कपड़े के बिना भी केवल प्रतिष्ठा ही नहीं, वरंच आरोग्य, एवं असम्भव नहीं है कि प्राण पर भी बाधा आवे। पर खेद का विषय है कि हम अपने मुख्य निर्वाह की वस्तु के लिए भी परदेशियों ही का मुह देखा करें। हमारे देश की कारीगरी लुप्त हुई जाती है, हमारा धन समुद्र पार खिंचा जाता है इत्यादि विषय बहुत सूक्ष्म हैं, उस पर ज़ोर देने से लोग कहेंगे कि एडीटरी की सनक है, कविता की अत्युक्ति है, "जिमि टिट्टिभ खग सुतै उताना" की नकल है, पर हमारे पाठक इतना देख लें कि जब हमको एक वस्तु उत्तम चिरस्थायिनी और अल्प मूल्य पर मिलती है तो बाहर से हम वह वस्तु क्यों लें?

गृहस्थ का यह धर्म नहीं है कि जब एक रुपया से काम निकलता है तब व्यर्थ डेढ़ उठावे। विलायती साधारण कपड़ा नैनसुख मलमल इत्यादि तीन आने से पांच आने गज मिलता है, उसके दो अंगरखे सालभर बड़ी मुश्किल से चलते हैं, पर उसके मुकाबिले देशी कपड़ा (मुरादाबादी कारखाना, कासगंजी गाढ़ा इत्यादि) तीन आने गज का। कपड़ा यद्यपि, अरज़ कम होने के कारण, कुछ अधिक लगता है, पर उसके दो अंगरखे तीन वर्ष हिलाये नहीं हिलते। बाबू लोग यह न समझें कि अंगरेज़ी फैशन का कपड़ा नहीं मिलता,

नहीं, बहुत से अच्छे अंगरेज भी अब यही पहिनते हैं। शौकीन लोग यह भी न खयाल करें कि देशी कपड़े में नफासत नहीं होती, नहीं, ढाके की मलमल, भागलपुरी टसर और मुर्शिदाबाद की गर्द अब भी अंगरेजी कपड़े को अपने आगे तुच्छ समझती हैं। अब ऐसा कोई तरह का कपड़ा नहीं है जो न बनता हो, और कुछ ही दिन लोग उत्साह दिखलावें तो न बन सके। प्रयागराज में केवल इन्हीं की एक कोठी मौजूद है। हमारे कानपुर के सौभाग्य से श्रीयुक्त लाला छोटेलाल-गयाप्रसाद महोदय ने भी देशी तिजारत कम्पनी खोली है। यदि अब भी इस नगर और जिले के लोग देशी कपड़े को स्वय पहिनने और दूसरों को सलाह देने में कसर करें तो देश का अभाग्य समझना चाहिये !

हम और हमारे सहयोगीगण लिखते २ हार गए कि देशोन्नति करो, पर यहांवालों का सिद्धान्त है कि "अपना भला हो देश चाहे चूल्हे में जाय", यद्यपि जब देश चूल्हे में जायगा तो हम बच न रहेंगे। पर समझना तो मुश्किल काम है ना। सो भाइयो, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहिनोहोगे, एक बेर हमारे कहने से एक २ जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुमसे ज्यादा मकुआ कौन? नहीं २ हम सब से अधिक, जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं!

कांग्रेस की जय।

श्रीयुत भीमजी जिस समय प्रयागराज में आकर सुशोभित हुए थे, इस वाक्य को प्रेमपूर्ण होके कई बेर उच्चारण किया था। कांग्रेस के मध्य में भी सैकड़ों सज्जनों के मुख से यही मंत्र उच्चरित हुवा था, और अंत में इलाहाबाद स्टेशन पर तो यह शब्द आकाश को भेद गए थे। अहाहा! आजतक हमारे कानों और प्रानों में यही ध्वनि गूंज रही है, और रह रह के मुह से यही निकलता है कि 'कांग्रेस की जय'। क्यों न हो, कांग्रेस साक्षात् दुर्गाजी का रूप है, क्योंकि यह देशहितैषी देवप्रकृति के लोगों की स्नेहशक्ति से आविर्भूत हुई है, "देवाना दिव्य गुण विशिष्टाना, तेजोराशि समुद्भवा" है। फिर, हम ब्राह्मण होके इसकी जय क्यों न बोलें। प्रत्यक्ष प्रभाव यही देख लीजिए कि इसके द्वेषियों ने अपनी सामर्थ्यभर झूठ प्रपंच, छल-कपट कोई बात उठा न रक्खी थी, पर—

जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुण कपि रूप दिखावा।

अंत में 'सत्यमेव जयते' इस वेद-वाक्य के अनुसार कांग्रेस का अधिवेशन हुवा, और ऐसा हुवा जैसी आशा न थी। स्वयं कार्य्याध्यक्ष लोग कहते थे कि हमने समझा था बड़ी हद हजार डेलीगेट आवेंगे, उसके ठौर पर डेढ़ हजार मौजूद हैं। धन्य है, लोग समझे थे कि मुसलमान उसमें कभी न शरीक होंगे, सो एक से एक प्रतिष्ठित विद्वान, धनिक, मुसलमान, अनुमान तीन सौ विराजमान थे। बरंच बाजे २ नगरों से हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान ही अधिक आए थे! भला इन बातों को आंखों देखके वा विश्वासपात्रों से सुनके कौन न कह उठेगा कि "कांग्रेस की जय"। सच तो यह है कि तीर्थराज

में ऐसा समागम शायद भारद्वाज बाबा के समय में हुआ हो, बीच में तो सुनने में नहीं आया। यों कुम्भादि के मेलों में हजारों की भीड़ होती है, पर "कहा रेशम के लच्छे, कहा झौवा भर झोथर" । कहा कुपढ़ उजड्ड वैरागियों के जमघट, कहा श्री अयोध्यानाथ, श्री मदनमोहन, श्री रामपाल, उमेश, सुरेन्द्र सरीखों का देवसमाज !

आहा ! इस अवसर पर जिसने प्रयाग की शोभा न देखी उसने कुछ न किया। लूथर साहब के हाते का नाम हमने प्रेमनगर रक्खा था। क्योंकि लड़के, बूढ़े, हिन्दू, मुसलमान, जैन, क्रिस्तान, पश्चिमोत्तर देशी, बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती, सिंधी, मद्रासी, फ़ारसी, इंगलिस्तानी सब के सब प्रेम से भरे हुए दृष्टि आते थे। किसी प्रकार की कोई वस्तु किसी समय आपको चाहनी हो, किसी कार्यकर्ता से कह दीजिए, बस, मानो कल की लाई धरी है। सब के एक से पटमन्दिर, (डेरे) सब का एक विचार (देशहित) आमोद प्रमोद, सलाप समागम के सिवा किसी को कुछ काम नहीं। व्याख्यानालय में पहुचने के सिवा कोई चिन्ता नहीं, हजारों की वस्तु अकेले डेरे में डाल आइए, सुई तक खो जाने का डर नहीं। नहाने खाने, सोने, बैठने, सैर करने आदि की किसी सामग्री का अभाव नहीं। तनिक शिर भी दुखे, वैद्य, हकीम, डाक्टर सब उपस्थित हैं। पास ही कांग्रेस के बाजार में दुनिया भर की चीजें ले लीजिए। पास ही तम्बू के तले दुनिया भर के समाचार (अखबार) जान लीजिए, पास ही डाक के बम्बे (लेटरबाक्स) में लिख के डाल दीजिए, आपका सारा हाल आपके सबन्धियों को पहुच जायगा। उसके पास ही डेरे में चले जाइए, अपने घर नगर का वृत्त जान लीजिए।

जहाँ व्याख्यान होते थे वह स्थान ऐसा सुदृश्य और नाना वस्तु तथा एक रङ्ग रूप की कुर्सियों से सुसज्जित था कि देखते ही बनता था। विशेषत. महात्मा ह्यूम इत्यादि पुरुष-रत्नों के आने पर तथा किसी के उत्तम व्याख्यान में कोई चीज की बात आ जाने पर करतल ध्वनि और आनन्द ध्वनि के एव नाना रग रूमाल-नर्तन की शोभा देखके यही ज्ञात होता था कि हम सुरराज के मंदिर में देव-समूह के मध्य बैठे हुए आनन्द समुद्र की लहरें ले रहे हैं। २६ से २६ ता० तक कांग्रेस का महाधिवेशन रहा। इस अवसर में प्रति-दिन प्रतिछिन आनन्द की वृद्धि रही। पर वह आनन्द केवल भारत-भक्तों के भाग्य में था। इतर लोग तो जो वहा जा भी पहुचे तो कोरे के कोरे ही आए।

एक दिन एक मियां साहब किसी से टिकट मांगके हमारी प्रेम-छावनी के भीतर पहुंच भी गए, पर इधर उधर अपनी अटीयाजी फैलाने से बाज न आए। अत दूध को मक्खी की भांति दूर कर दिए गए। २५ ता० को हमारे राजा शिव-प्रसाद साहब भी प्रयाग जी में आए, और डेलीगेट होने का दावा किया, बरञ्च फीस भी जमा कर दी, एव अपने पूर्व-कृत्यों का अनुताप भी प्रकाशित किया। पर किसी को विश्वास न हुआ। विश्वास तो तब होता जब आप कभी किसी देश-हित के काम में शरीक हुए होते। लोग नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करने लगे। किसी ने कहा—'राज जुगति गति जानि न जाई', किसी ने कहा चतुर तो हई हैं कौन जाने—'चौथेपन नृप कानन जाई' का उदाहरण दिखावें। किसी ने कहा, अभी यही तो कांग्रेसवालों को दण्डनीय ठहराते थे, एकबारगी क्योंकर

बदल जायँगे । जरूर कुछ दाल में काला है। इनका यहाँ आना भेद से खाली नहीं है। अवश्य—

"कोई माशूक है इस परदए जगानी में"

अस्तु, बहुत कहने सुनने से मिला लिए गए। पर २६ तारीख को कुछ बोले चाले नहीं। इससे सब को निश्चय सा हो गया कि दिनभर का भूला साँझ को घर आ गया होगा। पर २७ ता० को लीला दिखाना आरंभ ही तो किया। आप जानते हैं शिवजी गरल-कंठ तो हुई हैं। उसकी झार हम मनुष्यों से कहा सही जाती है। आप बोलने जाते थे, लोग हिचकी ले लेके रद्द करते जाते थे। अंत में जब श्रोतागण बिलकुल उकता गए तो 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ' वाला मंत्र पढ़ने लगे। अस्तु, आप विराजे, और हमारे परमाचार्य (सभापति) श्रीयुत जार्ज यूल तथा श्री नवलविहारी वाजपेयीजी ने उस विष की शान्ति के लिए मंत्र पाठ किए।

दूसरे दिन हमारे सी० एस० आई० महाशय अपनी काशी को पधार गए, और कांग्रेस-रूपी कलानिधि का ग्रहण छूटा। सबको आनंद हुआ। जिसका वर्णन करने को बड़ा सा ग्रंथ चाहिए! जहाँ स्कूल के छात्रों तक को देश-भक्ति का इतना जोश था कि रेल पर से डेलीगेटों को बड़ी प्रीति के साथ लाते थे, और डेरों पर सारा प्रबन्ध बड़ी उत्तमता से करते थे, तथा चपरास पहिन पहिन के व्याख्यान-मंदिर का इंतजाम करते थे, और प्रतिपल प्रेम प्रमत्त रहते थे, प्रतिनिधियों की शुश्रूषा में ही अपना गौरव समझते थे, (परमेश्वर करे कि हमारी राजराजेश्वरी इन वालंटियरों को शीघ्र वालंटियर बनावें, और अपनी कीर्ति तथा हमारी राजभक्ति बढ़ावें,) वहाँ दूसरों के आनंद का क्या कहना है!

तीस तारीख को सामाजिक व्याख्यान हुए थे, और उसी दिन बहुतसे लोग विदा भी हो गए थे। उस दिन अवश्य सब सहृदयों को वैसा ही खेद हुवा होगा जैसा रामचन्द्रजी को चित्रकूट में छोडके श्री पादुका लिए हुए भरतजी के साथ अयोध्यावासियों को घर लौटती समय हुवा था। पर हम उसका वर्णन करके अपने पाठकों को वियोग-कथा नहीं सुनाया चाहते। १८८६ में बम्बई की कांग्रेस के लिए सन्नद्ध होने का अनुरोध और दूसरे अङ्क में प्रयाग की कांग्रेस के कर्तव्य सुनाने का इकरार करके इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं। बोलो "कांग्रेस की जै।" बोलेगा सो निहाल होगा। बोलो, "महारानी विक्टोरिया की जै जै जै"।

तृतीय परिच्छेद ।

सामाजिक अंश ।

बाल्य-विवाह विषयक एक चोज ।

आर्यावर्तीय जना को सर्वथा अनिष्टकारक होने के कारण, वेद, शास्त्र, पुराण तो क्या, बाल्य-विवाह की विधि, आज्ञा वा प्रमाण आल्हा तक में नहीं है। शीघ्रबोध के जिन श्लोकों को प्रमाण मानके हिन्दू भाई इस घोर कुरीति पर फिदा हैं, जिनके लिए नई रोशनीवाले विचारे काशीनाथ पर फट्कबाजी करते हैं, उनका ठीक २ अर्थ ही कोई नहीं विचारता, नहीं तो उनमें तो महा निषेध—वरंच भयानक रीति से बाल्य विवाह का निषेध—ही है। देखिए साहब ! पुत्र का नाम आत्मा है, और लोक में भी प्रसिद्ध है कि "भाई तुमको देख लेते हैं तो मानों साक्षात् तुम्हारे पिता ही को देख लेते हैं।" अर्थात् वेद और लोक दोनों के अनुसार पिता और पुत्र की अभिन्नता है।

अब शीघ्रबोध के वचनों पर ध्यान दीजिए—"अष्टवर्षा भवेद्गौरी नव वर्षा च रोहिणी" इत्यादि। आठ वर्ष की लड़की गौरी है, और गौरी साक्षात् भगवान् शिवजी की अर्धांगिनी जगत् की माता हैं, और नव वर्ष की लड़की रोहिणी है, जो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के बड़े भाई श्रीदाऊजी (बलदेव) की माता हैं। इस नाते संसार की दादी हुई। भला कौन ऐसा नीच दुष्ट नराधम राक्षस होगा जो श्रीमती पार्वती तथा

रोहिणी देवी से विवाह ! अरे राम राम ! करना कैसा, करने का नाम ले, उसकी जीभ में कीडे पड़ें ! कहा रोहिणी, पार्वती, कहा क्षुद्र मानव तथा उसके सन्तान ! और हाय रे कुजा (कहा) वैवाहिक सम्बन्ध ! अरे भाई ऐसा तो विचार करना महा चान्डालत्व है ! और लीजिए—"दशवर्षा भवेत् कन्या" इस लेखे मनुष्यों की कन्या एवं उनके बालकों की भगिनी हुई ! कहते रोएं थर्राते हैं, कौन बेटी बहिन से व्याह कर लेगा !

हां, "ततश्चौर्द्धं रजस्वला" तिसके (दश वर्ष के) ऊपर जब रजस्वला होय (बारहवें तेरहवें वर्ष) तब व्याह के योग्य होगी। हां, इतना विचार रक्खो, रजस्वला का छूना तक आर्य-रीति के विरुद्ध है। इस वाक्य के न मानने से यह होगा कि बीच ही में अर्थात् दश वर्ष के लगभग होने से रजस्वला धर्म, जो सृष्टि क्रमानुसार बारह तेरह वर्ष में होता है, सो बीचही में अर्थात् ग्यारहें ही साढ़े ग्यारहें वर्ष कूद पड़ेगा। इससे बिचारी कन्या की रजस्वला सज्ञा हो जायगी। इस स्वभाव विरुद्ध कर्मवालों के हक में भी काशीनाथजी ऊपर वाले श्लोक की पुष्टि करते हैं—"माता चैव पिता चैव ज्येष्ठ भ्राता तथैव च।" दयानन्द स्वामी (तथानुज) और जोडते हैं, सो भी ठीक है। व्याह के तमाशे छोटे लडके ही खूब देखते हैं। वरञ्च हमारी राय लीजिए तो पुरोहित भी, क्योंकि पढ़े न समझे, अपने भ्रम में विचारे यजमान से पाप करावें, और वर कन्या का जन्म नशावें ! "ते सर्वे नरक यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वला"।

अब कहो श्री काशीनाथ भट्टाचार्य का दोष है कि गप्पू-नाथ भट्टाचार्य हिन्दुस्तानियों का गदहापन है !

पतिव्रता ।

इस नाम का हमारे यहां सदा से बडा गौरव है। हमारे वेद शास्त्र पुराणों में सहस्त्रों वचन पतिव्रताओं की महिमा के हैं। हमारी परमपूज्या जगदम्बा श्री पार्वतीजी, श्री सीताजी, श्री अनुसूयाजी इत्यादि का बडा महत्व विशेषतः इसी कारण है कि वे पतिव्रता थीं। निश्चय है कि स्त्री के लिए पति मत से बढके कोई धर्म नहीं है, न पति से बढके कोई देवता है। अद्यापि साधारण स्त्रियां कहा करती हैं कि "हमार पति परमेश्वर आहीं"। सच तो यों है कि जिस स्त्री ने मन-वचन-कर्म से सत्य और सरलता के साथ पति-प्रेम का निर्वाह किया वह महान् पूजनीया है। दक्ष प्रजापति की पुत्री सतीदेवी का चरित्र परम प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने प्यारे प्राणनाथ भगवान् भोलानाथ का अपमान देखके पिता का, देवताओं का, ऋषियों का, अपने प्राण का भी कुछ शोच-सकोच न किया। फिर क्यों न हम लोग सती शब्द को पतिव्रता का पर्याय समझें?

भारत की पूर्णोन्नति का एक बडा भारी कारण यह भी था कि स्त्रियां बहुधा पतिव्रता होती थीं। संसार रूपी रथ के दोनों पहिए स्त्री और पुरुष हैं, और व्यभिचार को तो व्यभिचारी लोग भी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक अवनति का मूल मानते हैं। फिर, जिस देश में स्त्रिया विशेषतः पतिव्रता हों, और पुरुष एक स्त्रीव्रती हों उस देश की उन्नति में क्या बाधा हो सकती है। जिस गाड़ी के दोनों पहिए दृढ हों उसके चलने में भी कोई अडचन है? प्रेम में यह सामर्थ्य है कि प्रेमपात्र कैसा ही हो, पर प्रेमिका की दृढचित्तता से वह अवश्य

प्रेमिका के रग ढग का हो जाता है। पुरुष कैसा ही कुकर्मी और कर्कश हो, पर स्त्री सच्ची पति-देवता हो तो पुरुष निलज्ञ व्यभिचारी न रहेगा। ऐसे ही पुरुष सचमुच स्त्री से प्रीति रक्खें तो स्त्री का सुधर जाना असम्भव नहीं है। इसी से कहते हैं कि पतिव्रता स्त्री दोनों कुल को सुशोभित करती है। जिस घर में पतिव्रता हो वह घर, वह कुल, वह देश धन्य है।

चित्तौर का राजवंश भारत के इन गिरे दिन में भी इतना प्रतिष्ठित है। इसका मुख्य कारण यही है कि इस घोर कलिकाल में भी वहा सहस्रा शूर और सती थीं। इस ज़माने में हम देखते हैं कि शूरता का तो प्राय लोप ही सा हो गया है, पर सती भी बहुत कम रह गई है, बरंच न होने के बराबर कह सकते हैं। सती से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि खाम खाह पति के साथ जल जाना चाहिये। मुख्य सती वह है जो पति के विरह रूपी अग्नि में ऐसा दु.ख अनुभव करे कि जीते जी मर जाने के समान। पर हाय! एक वह दिन थे कि हमारे यहा सतीत्व उस पराकाष्ठा का पहुचा हुआ था कि जीते जल जाना तक रिवाज हो गया था, और एक वह दिन है कि पतिव्रता ढूढ़े मिलना कठिन है! हम यह तो नहीं कह सकते कि सारी स्त्रियां दयमाबाई की साथिनी हो रही हैं, पर इसमें भी सन्देह नहीं है कि पति के दु ख सुख में अपना सच मुच सुख दु.ख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखनेवाली, पति से सच्चा स्नेह निभानेवाली स्त्रियां भी हजारों में दस ही पाच हों तो हों।

इसके कई कारण हैं। एक तो यही कि स्त्री शिक्षा की चाल उठ सी गई है। यदि कोई कोई लोग पढाते भी है तो मेमों से

या मेम दासियों से ! भला वे ईमा के गीत और लिवरटी सिखावेंगी अथवा पतिव्रत ! दूसरे थोड़ा बहुत कुछ पढ भी गईं तो घर का ठीक नियम नहीं है। बहुत सी दो दो चार चार पैसे की ऐसी पुस्तकें छप गई हैं जो पुरुषों के लिए तो खैर, जी बहलाने को अच्छी सही, पर स्त्रियों के लिए हानिकारक हैं ! बाबूसाहब बाजार से ले आए, घर में डाल दिया। बबुआइन साहबा ने खोलके पढ़ा तो "जोबन का मांगे दान कान्ह कुंजन में"—भला कौन आशा करे ! तीसरे मरदों को तो सभाए भी हैं, अखबार भी हैं, पुस्तकें भी हैं, पर स्त्रियों के लिए उपदेश की कोई चाल ही नहीं है। हम आशा करते हैं कि श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी (रतलामवासिनी) अपनी "सुगृहिणी" नामक पत्रिका में पतिव्रत पर अधिक ज़ोर देंगी, जिसमें सर्वसाधारण स्त्रियों को वास्तविक लाभ हो। फोटोग्राफी आदि की अभी हमारी गृह-देवियों के लिए अधिक आवश्यकता नहीं है। नवीन ग्रन्थकारों को भी चाहिए कि जहां और बहुत सी बातें लिखते हैं, कभी २ इधर भी झुकते रहें। व्याख्यान-दाता लोग कभी २ स्त्रियों को भी परदे के साथ स्त्री धर्म की शिक्षा दिया करें। यही सब पतिव्रत प्रचार की युक्तियां हैं।

इधर हमारे गृहस्थ भाइयों को भी समझना चाहिए कि दोनों हाथ ताली बजती है। उन्हें पतिव्रता बनाने के लिए इन्हें भी स्त्री व्रत धारण करना होगा। एक बात और भी है कि स्त्रियां अभी विशेषतः मूर्खा हैं। अतः साम, दाम, दंड, भेद से काम लेना ठीक होगा। निरे न्याय और धर्म से वे राह पर न आवेंगी। ऐसी युक्ति से बर्तना चाहिए कि वे प्रसन्न भी रहें, और कुछ डरती भी रहें। तभी प्रीति करेंगी।

"आई माघ की पाँचैं बूढ़ी डोकरिया नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, ब्याह माह दिन चार।
शठ पण्डित, वेश्या वधू सबै भए इकसार"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनन्दमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज तिवहार के दिन भी आनन्द वदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिन्दूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया?

तुम्हें आज क्या सूझी है, जो अपने पराए सभी पर मुह चला रहे हो? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है, उसके माननेवाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहिरी सम्बन्ध छोड़ देते हैं। पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर, उन छुटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो? ऐसी ही नड़ास लगी हो तो उनसे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी बेटी का व्यौहार रखते हैं, तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रन्थों के माननेवाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निन्दा कर करके तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नखूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनियाभर का बोझा

होली है।

तुम्हारा सिर है! यहां दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा भुना हुवा हरा चना) हो रहे हैं इन्हें होली है, हैं!

अरे कैसे मनहूस हो? बरस २ का निवहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत! एक बार तो प्रसन्न हो कर बोलो, होरी है!

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की जबरदस्ती से होरी (हरि) बोलके शांत हो जाते। हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि किसी में भी कुछ तत नहीं है। खेतों की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी करदी है। जो कुछ उपजता भी है वह कटके खलियान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है! रुजगार व्यौहार में कहीं कुछ देखी नहीं पडता। जिन बाजारों में, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, कञ्चन बरसता था वहां अब दूकानें भाय २ होती हैं! देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषत जो छाती ठोंक २ ताली बजवा २ कागजों के तख्ते रंग २ कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं। नौकरी बी० ए०, एम० ए०, पास करनेवालों को भी उचित रूप में मुशकिल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली!

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किनके हैं? उन्हीं के न, जो किसी समय बसंत-पचमी ही से:—

"आई माघ की पाचैं बूढ़ी डोकरिया नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, ब्याह माह दिन चार।

शठ पण्डित, वेश्या वधू सबै भए इकसार"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनन्दमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज त्यौहार के दिन भी आनन्द-वदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिन्दूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया?

तुम्हें आज क्या सूझी है, जो अपने पराए सभी पर मुंह चला रहे हो? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है, उसके माननेवाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहिरी सम्बन्ध छोड़ देते हैं। पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर, उन छुटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो? ऐसी ही खडास लगी हो तो उनसे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी बेटी का व्यौहार रखते हैं, तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रन्थों के माननेवाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निन्दा कर करके तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनियाभर का बोझा

परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारखाने हैं, भले बुरे लाग और दुःख सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय सामना आ पडे तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगड़े में फसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भाग खाके आए हो इसी से ऐसी बेसिर पेर की हाक रहे हो। अभी कल तक प्रेम सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगड़े में फसने न दे'। वाह! भला तुम्हारी किस बात को मानें ?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ! यही तो तुमसे नहीं होता। तुम तो जानते हो कि हम चोरी चहारी सिखावेंगे।

नहीं यह तो नहीं जानते। और जानते भी हों तो बुरा न मानते। क्योंकि जिस काल में देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमें यदि कुछ लोग "बुभुक्षित किं न करोति पाप" का उदाहरण बन जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हां यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी २ समझ में नहीं आतीं। इससे मानने को जी नहीं चाहता।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का मानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी।

अच्छा साहब मानते हैं, पर यह तो बतलाइए जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छि क्या समझ है! अरे बाबा! हमारी बातें मानने में योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है। जो बातें हमारे

ह से निकलती हैं यह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके
नने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को
ी तीन लोक और तीन काल में नहीं है। पर इसमें भी सन्देह
करना कि जो कोई चुपचाप आंखें मींच के मान लेता है वह
रमानन्द भागी हो जाता है।

हिहि! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुनकर पर
मानन्द तो नहीं, हां, मसखरेपन का कुछ मजा जरूर पा जाता है!

भला हमारी बातों में तुम्हारे मुह से हिहि तो निकली!
स तोबड़ा से लटके हुए मुह के टाकों के समान दो तीन
ात तो निकले। और नहीं तो, मसखरेपन ही का सही,
मजा तो आया। देखो, आंखें मट्टी के तेल की रोशनी और
कुलिहया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो!
छत्तिसी जात, वरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा
भच्छ अभच्छ की गंध से अकिल भाग न गई हो तो समझो।
हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने
क्या प्राप्त हो जायगा। इसी से कहते हैं, भैया मान जाव, राजा
मान जाव, मुन्ना मान जावो। आज मन मारके बैठे रहने का
दिन नहीं है। पुरखों के प्राचीन सुख सम्पति को स्मरण करने
का दिन है। इससे हसो, बोलो, गाओ बजाओ, त्योहार
मनाओ, और सब से कहते फिरो—होली है।

हो तो ली ही है। नहीं तो अब रही क्या गया है।
खैर, जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो,
पर अपने ढंग से, नकि विदेशी ढंग से। स्मरण रक्खो
कि जब तक उत्साह के साथ अपनी ही रीति-नीति का
अनुसरण न करोगे तबतक कुछ न होगा। अपनी बातों को
बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है। रोना निरुत्साहसों का काम

है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। मांगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकडा भी न देगा। इससे अपनपन मत छोडो। कहना मान जाव। आज होली है।

हां, हमारा हृदय तो दुर्दैव के वाणों से पूर्णतया होलि (होल अगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त।) है। हमें तुम्हारी सी ज़िंदादिली (सहृदयता) कहा से सूझे?

तो सहृदयता के विना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) है तो उनपर साहस की पट्टी चढाओ। मृतक की भाति पडे काखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें, जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो?

यह कलजुग है। बडे २ वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल बुद्धि, धर्म, धन, मान प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से पर थोडी देर उसकी तरग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे, और मनोविनोद के अभाव उसके सेवकों के लिए कभी २ उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त-बन बैठना। सुनिए! संगीत साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि निगम-विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए दो गुणों की आवश्यकता है, जिनके विना जीवन की सा-कता दुःसाध्य है।

बलिहारी है, महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगडे में फसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दु:साध्य है! धन्य हैं, यह सरगापचाली बातें! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आंतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुप चाप मान ही लिया करो, बहुत अक्किल को दौड़ा २ के थकाया न करो। इसी में आनन्द भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान् भूतनाथ श्मसान विहारी, मुंडमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वत राजनन्दिनी को वामाग ही में धारण किए रहते हैं, और प्रेम-शास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र को लोग श्रृङ्गार रस का देवता समझते हैं, पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए। जिसे सुनाके उन्होंने अर्जुन का मोह-जाल छुड़ाके वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दया-माया, मोह-ममता को तिलांजलि देके

है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। मांगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकडा भी न देगा। इससे अपनपना मत छोडो। कहना मान जाव। आज होली है।

हां, हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली (होल अगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त।) है। हमें तुम्हारी सी जिंदादिली (सहृदयता) कहां से सूझे?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोए पीटे देवयोग से हो भी जायगा तो 'नकटा जियो बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) है तो उनपर साहस की पट्टी चढाओ। मृतक की भांति पडे २ काखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोडी सी पिला लावें, जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो?

यह कलजुग है। बडे २ वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोडी देर उसकी तरंग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे, और मनोविनोद के अभाव में, उसके सेवकों के लिए कभी २ उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिए! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियम विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है, महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है! धन्य है, यह सरगापत्ताली बातें! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुप चाप मान ही लिया करो, बहुत अकिल को दौड़ा २ के थकाया न करो। इसी में आनन्द भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान् भूतनाथ श्मसान विहारी, मुंडमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वत राजनदिनी को वामाग ही में धारण किए रहते हैं, और प्रेम-शास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र को लोग शृङ्गार रस का देवता समझते हैं, पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए। जिसे सुनाके उन्होंने अर्जुन का मोह-जाल छुडाके वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दया-मया, मोह-ममता को तिलांजलि देके मारकाट आरभ कर दी थी। इन बातों से तत्व-ग्राहिणी समझ भली भाति समझ सकती है कि भगवान प्रेमदेव की

अनंत महिमा है। वहां अनुराग-विराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही है। इसी से सच्चे समझदार संसार में रह कर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व पुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो या प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे या निंदा, बाह्य दृष्टि से लाभ देख पडे या हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूलमंत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष-भर की कही-सुनी क्षमा करके हाथ जोड के, पांव पड के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथा सामर्थ्य जी खोलके परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में [illegible] के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाते

समय का फेर।

अभी वह लोग बहुत से जीते हैं जो सन् ५७ के बलवे के दस पांच वर्ष पहिले का हाल अपनी आखों देखा बतलाते हैं, और उनमें से अधिकांश लोग ऐसे हैं, जिनकी बातें विश्वास करने के योग्य हैं। पर इस वर्तमान काल के लोगों को वे बातें बहुधा कहानी सी जान पडती हैं, क्योंकि उस जमाने से और इस जमाने से इतना फर्क है कि बुड्ढे लोग उसे सतयुग कहते हैं, और इसे कलियुग मानते हैं। हमारे एक वृद्ध मित्र का कथन है कि भैया तुम्हीं लोग कहो कि इन दिनों देश की दशा सुधरने लगी, पर हमारी समझ में सिवाय इसके कि तुम्हें बातें बनाने का अधिक अभ्यास हो गया, और अठए दसए दिन थोडे से नौसिखियों को इकट्ठा करके आपस की बकवास निकाल डालते हो। यह बातें तो वेशक हमारी जवानी में न थीं, पर जो आनन्द हमने भोगा है वह तुम्हें सपने में भी दुर्लभ है। तुमने देखा होगा कि ओमर बनियों के यहा व्याह में बरातियों को जो सीधा (भोजन-सामग्री) दिया जाता है उसमें धेला कौडी घी के लिए देते हैं। इस बात को तुम लालच अथवा दरिद्रता समझ के हसते होगे, पर हम सौगध खा के कहते हैं कि हमारी जवानी में धेले का घी एक आदमी के लिए बहुत होता था। यह प्रत्यक्ष देख लो कि हम में अब भी वह बल और पौरुष है कि तुम्हें हम कुछ नहीं समझते। इसका कारण यही है कि हमने १८ या २० रुपये मन घी और रुपये का २२ तथा २० सेर दूध ऐसा खाया है जैसा तुम्हें डेउढे दूने दामों पर भी मिलना कठिन है। भैया यह उसी खिलाई-पिलाई का फल है कि हम साठा सो पाठा बने हैं।

अनत महिमा है। वहां अनुराग-विराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार ससार में रह कर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी ससारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व पुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो वा प्रतिकूल, सारा ससार स्तुति करे वा निंदा, बाह्य दृष्टि से लाभ देख पडे वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूलमत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही-सुनी क्षमा करके हाथ जोड के, पांव पड के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथा-सामर्थ्य जी खोलके परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्यौहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात २ पर झुकरते ही हों उन्हें उनके भाग्य के आधीन छोडके अपनी मोज में मस्त रहने का समय है। इसी से कहते हैं, नई बहू की नाईं घर में न घुसे रहो, पर्व के दिन मन मार के न बैठो, घर बाहर, हेती ब्यौहारी से मानसिक आनन्द के साथ कहते फिरो—हो ओ ओ ली ''''

समय का फेर ।

अभी वह लोग बहुत से जीते हैं जो सन् ५७ के बलवे के दस पाच वर्ष पहिले का हाल अपनी आखों देखा बतलाते हैं, और उनमें से अधिकांश लोग ऐसे हैं, जिनकी बातें विश्वास करने के योग्य हैं। पर इस वर्तमान काल के लोगों को वे बातें बहुधा कहानी सी जान पडती हैं, क्योंकि उस जमाने से और इस जमाने से इतना फर्क है कि बुड्ढे लोग उसे सतयुग कहते हैं, और इसे कलियुग मानते हैं। हमारे एक वृद्ध मित्र का कथन है कि भैया तुम्हीं लोग कहो कि इन दिनों देश की दशा सुधरने लगी, पर हमारी समझ में सिवाय इसके कि तुम्हें बातें बनाने का अधिक अभ्यास हो गया, और अठए दसए दिन थोडे से नौसिखियों को इकट्ठा करके आपस की बकवास निकाल डालते हो। यह बातें तो बेशक हमारी जवानी में न थीं, पर जो आनन्द हमने भोगा है वह तुम्हें सपने में भी दुर्लभ है। तुमने देखा होगा कि ओमर बनियों के यहा व्याह में बरातियों को जो सीधा (भोजन सामग्री) दिया जाता है उसमें धेला कौडी घी के लिए देते हैं। इस बात को तुम लालच अथवा दरिद्रता समझ के हसते होगे, पर हम सौगध खा के कहते हैं कि हमारी जवानी में धेले का घी एक आदमी के लिए बहुत होता था। यह प्रत्यक्ष देख लो कि हम में अब भी वह बल और पौरुष है कि तुम्हें हम कुछ नहीं समझते। इसका कारण यही है कि हमने १८ या २० रुपये मन घी और रुपये का २२ तथा २० सेर दूध ऐसा पाया है जैसा तुम्हें डेवढे दूने दामों पर भी मिलना कठिन है। भैया यह उसी खिलाई पिलाई का फल है कि हम साठा सो पाठा बने हैं।

अनंत महिमा है। वहां अनुराग-विराग, सुख दुःख, मुक्ति साधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार संसार में रह कर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व पुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो या प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे या निंदा, वाह्य दृष्टि से लाभ देख पडे वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूलमंत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही-सुनी क्षमा करके हाथ जोड के, पांव पड के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथासामर्थ्य जी खोलके परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्योहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात २ पर भुकरते ही हों उन्हें उनके भाग्य के आधीन छोडके अपनी मोज में मस्त रहने का समय है। इसी से कहते हैं, नई बहू की नाईं घर में न घुसे रहो, पर्व के दिन मन मार के न बैठो, घर बाहर, हेती व्योहारी से मानसिक आनन्द के साथ कहते फिरो—हो ओ ओ ली ई ई ई ई।

करे तौ भी तुम में यह लक्षण नहीं हैं कि तुम्हारा घूता बना रहे।

बल की रक्षा के सिवा धन का यह हाल था कि बागभड़ की अद्धी, लखनऊ की छींटें कनौज का गाढा, ढाके की मल मल इत्यादि हमारे कपडे ऐसे थे कि कम से कम बरस दिन तक ता टसकाए न टसकते थे। बरञ्च गरीब गुरवा के कपड़े की यह दशा थी कि एक गाढ़े का थान ले लिया, दो वर्ष धोती पहिनी, फिर रँगा के रजाई बनवा ली। तीन चार वर्ष को फिर छुट्टी हुई। भला यह तो बताओ तुम्हारे लॅकलाट और तंजेब के अंगरखे के महीने चलते हैं? अभी बरतनों पर गुम्हया की दशा है। अधिकतर देशी ही हैं जो टूट फूट जाने पर भी तांबे पीतल के भाव बिक ही जाते हैं। पर तुम्हारी कुबुद्धि ने कांच के गिलास और लंप आदि की भक्ति उपजाय दी है। जिनमें दाम तो दूने चौगुने लगते हैं, पर फूट जाने पर शायद पांच रुपये की लप एक रुपये को भी न बिके। कहा तक कहें सब से तुच्छ जूता होता है, सो अमीर लोग तीन चार का पहिनते थे और टूट जाने पर नौकरों को उठा देते थे। वे पहन पहना-कर रुपया बारह आने भर चांदी उसमें से निकाल लेते थे। पर तुम्हारे पांच रुपये के बूट में बताओ तो कितनी जरी होगी? रुजगार की यह गति थी कि हमारी देखी हुई बात है कि लखनऊ, फर्रुखाबाद, मिरजापुर आदि में कंचन बरसता था। पर हाय आज धूल उड़ती है, और राम न करे, यही हाल कुछ दिन और रहा तो यह शहर के नाम से पुकारे जाने योग्य न रहेंगे। क्योंकि स्त्री का पति है पुरुष और पुरुष का पति रुजगार है।

जिन रोगों से तुम बारहों मास घिरे रहते हो उनका हमने कभी नाम भी नहीं सुना था। तुम अपनी सभाओं में बाल्य-विवाह बाल्य विवाह भींका करते हो, पर हम लोगों के भी ब्याह १२ हो १३ वर्ष की अवस्था में होते थे तो भी निर्बलता क्या है, यह हम जानते भी नहीं। क्योंकि लड़काई में ब्याह होता था तो क्या हुवा, गौना तो सात वर्ष, पांच वर्ष अथवा कम से कम तीन वर्ष ही में होता था। इसके सिवा हम अपने बड़े बूढ़ों की लाज से अपनी स्त्री के साथ खुलके बात भी बहुत कम करते थे। इसके सिवा धर्म का डर और अपने जमाने की चाल के अनुसार अपने अड़ोस पड़ोस गाव-देश की स्त्रियों को उनकी उमर देखके किसी को चाची, किसी को दीदी, किसी को बिटिया कहते थे, और सचमुच वैसा ही मानते थे। हम तो न भी मानते, पर यह डर था कि हम बुराई करेंगे तो कोई मूड़ काट लेगा, या मारते२ अधमरा कर डालेगा! वेश्याओं के यहां लोकलाज के मारे न जाते थे। कोई देख लेगा या सुन पावैगा तो नौधरी होगी।

यही सब बातें थीं कि हमारा बल अब भी तुमसे अधिक है। यह बातें तुम में कहीं हुई नहीं। तुम चाहते कि हम अपनी बहुआइन को लेके सैर करने पावें तो मानों बैकुण्ठ मिल जाय। गांव नगर की स्त्रियां तुम्हारे हिसाब कुछ हैं ही नहीं। यदि घर की सनातन रीति के मारे मुंह से चाची बहिनी इत्यादि कहने भी हो तो जी में यह जरूर समझते होंगे कि न हमारे चाचा की विवाहिता है न हमारे बाप की बेटी है। ·· वेश्या के यहां जाना तुम अमीरी और जिन्दादिली समझते हो। धिक्कार है इस बुद्धि को! यदि परमेश्वर करे देश में यही चाल चल जाय कि ब्याह २४—२६ वर्ष में हुआ

तथा—

"बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
जबाने खल्क को नक्कारए खुदा समझो।"

इत्यादि वचन पढ़े लिखों के हैं, और—'पांच पंच की भाषा अमिट होती है', 'पचन का वैर कै कै को तिष्ठा है' इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुह से बात २ पर निकलते रहते हैं। विचार के देखिए तो इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि—

'जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छिन होय'

की भांति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही बन जाता है। आप चाहे जैसे बलवान, धनवान, विद्वान हों, पर यदि पच की मरज़ी के खिलाफ चलिएगा तो अपने मन में चाहे जैसे बने बैठे रहिए, पर ससार से आपका वा आपसे ससार का कोई काम निकलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। हा, सब झगड़े छोड़कर विरक्त हो जाइए तो और बात है। पर उस दशा में भी पचभूतमय देह एव पचज्ञानेन्द्रिय, पचकर्मेन्द्रिय का झझट लगा ही रहेगा। इसी से कहते हैं कि पच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं। क्योंकि पच जो कुछ करते हैं, उसमें परमेश्वर का ससर्ग अवश्य रहता है, और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पच ही के द्वारा सिद्ध होता है। वरच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता। पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चद्र, ग्रह, उपग्रह नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही, पर किसको विदित होती? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिए बैठे रहते।

पंच परमेश्वर।

पंचत्व से परमेश्वर सृष्टि-रचना करते हैं। पंचसम्प्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है। पचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है। पच वर्ष तक के बालकों का परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्तव्याकर्तव्य की ओर ध्यान न देके सदा सब प्रकार रक्षण किया करते हैं। पचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। काम के पंचबाण को जगत् जय करने की, पचगव्य को अनेक पाप हरने की, पचप्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य-सम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगडे मिटा देने की, पचरत्न को बडे बड़ो का जी ललचाने की सामर्थ्य परमेश्वर ने दे रक्खी है।

धर्म में पचसस्कार, तीर्थों में पचगगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पच पतिव्रत आत्मा (पाक पेजतन) इत्यादि का गौरव देखके विश्वास होता है कि पच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसी मूल पर हमारे नीतिविदाम्बर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है। जिसमें सर्वसाधारण संसारी-व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पच अर्थात् अनेक जनसमुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें। क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण न किसी को बाह्य चक्षु के द्वारा दिखाई देता है न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा, पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि जिस बात को पच कहते वा करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसी से.—

"पाच पंच मिल कीजै काज, हारे जीते होय न लाज,"

विसर्जन तक का उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का अवलम्बन करना मंगलदायक न होगा? यदि बहकानेवाले रोचक और भयानक बातों से लाख चार करोड़ प्रकार समझावें तो भी ध्यान न देना चाहिए। इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पच ही का अनुकरण परम कर्तव्य है। क्योंकि पच और परमेश्वर का बड़ा गहिरा सम्बन्ध है। बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रखके पच के अनुकूल मार्ग पर चले आइये तो दो ही चार मास में देख लीजियेगा कि बड़े २ लोग आपके साथ बड़े स्नेह से सहानुभूति करने लगेंगे, और बड़े २ विरोधी बड़े साम, दाम, दंड, भेद से भी आपका कुछ न कर सकेंगे। क्योंकि सब से बड़े परमेश्वर हैं, और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े २ अधिकार पच महोदय को दे रक्खे हैं। अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपा-पात्र का कभी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सकता। इससे चाहिए कि इसी क्षण भगवान् पचवक्त्र का स्मरण करके पच परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंच-पाण्डव की भांति निश्चिंत रहिएगा।

"जियत हंसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज"

क्या कोई सकल सद्गुणालकृत व्यक्ति समस्त सुख सामग्री सयुक्त, सुवर्ण के मदिर में भी एकाकी रहके सुख से कुछ काल रह सकता है ? ऐसी २ बातों को देख सुन, सोच समझके भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव में फँसके पच के विरुद्ध हो बैठते हैं, अथवा द्वेषियों का पक्ष समर्थन करने लगते हैं वे हम नही जानते कि परमेश्वर, (प्रकृति) दीन, ईमान, धर्म, कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुंह दिखाते होंगे ? हमने माना कि थोडे से हठी, दुराग्रही लोगों के द्वारा, उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशसा, मिलनी सम्भव है, पर इसके साथ अपनी अतरात्मा (कानशेन्स) के गले पर छूरी चलाने का पाप तथा पचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है, और एक न एक दिन अवश्य भडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है। यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एव सनान के लिए लज्जा तो कहीं गई ही नहीं। क्योंकि पच का बैरी परमेश्वर का बैरी है, और परमेश्वर के वैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—

राखि को सकै रामकर द्रोही।

पाठक! तुम्हें परमेश्वर की दया और बडों बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है। अत. आंखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवनकाल में पढी लिखी रुचिवाले पच किस ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किये हुए मार्ग पर किस दृढता, वीरता और अकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोडे से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, वरच लाठी तक खाके हतोत्साह नहीं होते, और स्त्री पुत्र, धन जन क्या, वरच आत्म

पूजा में वगाली माता पेट भर २ मास खाने और तोंद फुलाते हैं। कार्तिक में यों तो सभी को सुख मिलता है, पर हमारे सटोवाजों को पौवारह रहती है। 'न हाकिम का खटका न रैयत का गम।' सरे बाजार मतलब गांठना विशेषत दिवाली में तो देश का देश ही उनकी स्वार्थसाधिनी सभा का मेम्बर हो जाता है। पीछे से "आकवत की खबर खुदा जाने," आज तो राजा, बाबू, नवाब, सर (अगरेजी प्रतिष्ठावाचक शब्द) हजरत, श्रीमान् सब आपही तो हैं।

अगहन और पूस हिन्दुओं के हक में मनहूस महीने हैं। इनमें शायद कोई त्योहार होता हो। पर बड़ा दिन बहुधा इन्हीं में होता है। इससे मेवा फ़रोशों तथा हमारे गौराग देवताओं का मुह मीठा होता है।

माघ में स्नानादि अवरते हैं, इससे धर्मकार्य ही कम होते हैं, पर कहां से हों! पर हा, वसतपचमी के दिन धोबिनों की महिमा बढ जाती है। घर २ श्री पार्वती देवी की स्थानाधिकारिणी बनी पुजाती फिरती हैं। हम नहीं जानते कि यह चाल कब से चली है, और कौन उत्तमता सोच के चलाई गई है!

फागुन के तो क्या २ गुन गाइएगा, होली है। ऐसा कौन है जो खुशी के मारे पागल न हो जाता हो। जब जड़ वृक्ष आम भी बौराते हैं तब आम खास सभी के बौराने की क्या बात है। पर सब से अधिक भडुओं का महत्व बढ जाता है! बड़े २ दरबारों में उनकी पूछ पैठार होती है, बड़े बड़े लोगों को उनकी पदवी मिलती है। 'आइये आप होली के भडुआ' बस सिर से पाव तक तर हो गए!

किस पर्व में किस की बन आती है।

श्री रामनौमी में भक्तों की बन आती है। व्रत केवल दुपहर तक का है, सो यों भी सब लोग दुपहर के इधर उधर खाते हैं। इससे कष्ट कुछ नहीं, और आनन्द का कहना ही क्या है, भगवान का जन्मदिन है। अनुभवी को अकथनीय आनन्द है। मतलबी को भी थाडे से शुभ कर्म में बहुत बड़ी आशा है।

वैशाष में कोई बडा पर्व नहीं होता, तो भी प्रात स्नान करनेवालों को मज़ा रहता है। भोर की ठडी हवा, सो भी वसत ऋतु की। रास्ते में यदि नीम का वृक्ष भी मिलगया तो सुगध से मस्त हो गए।

जेठ में दशहरा को गगापुत्रों की चादी है। गरमी के दिन ठहरे, बडा पर्व ठहरा; नहाने कौन न आवैगा, और कहा तक न पसीजेगा। आषाढी को चेला मूडनेवाले गोसाइयों के दिन फिरते हैं। गरीब से गरीब कुछ तो भेंट धरेईगा। नाग पचमी में लडकियों का, (परमेश्वर उनके माता पिता को बनाए रक्खे) भादों में हलषष्ठी को भुजरियों के भाग जगते हैं, जिसे देखो वही बहुरी २ कर रहा है।

हमारे पाठक कहते होंगे कि जन्माष्टमी भूल गए। पर हम जब आधी रात तक निर्जल रहने की याद दिला देंगे तब यक़ीन है कि वे भी सब आमोद-प्रमोद भूल जायगे। क्योंकि 'भूखे भगति न होय गुपाला।'

कुआंर का कहना ही क्या है। प्रोहित जी पित्रपक्षों भर सब के पिता पितामहादि के रिप्रिजेन्टेटिव (प्रतिनिधि) बने हुए नित्य शष्कुली खाते और गुलछर्रे उड़ाते हैं। फिर दुर्गा

माघ का महीना कनौजियों का काल है। पानी छूते हाथ पांव गलते हैं। पर हमें बिना स्नान किये फलहार खाना भी धर्मनाशक है। जलसूर के माने चाहे जो हों, पर हमारी समझ में यही आता है कि सूर अर्थात अंधे बनके, आंखें मूंदके लोटा भर पानी पीठ पर डाल लेनेवाला जलसूर है।

फागुन में होली बड़ा भारी पर्व है। सब को सुख देती है। पर दुःख भी कइयों को देती है। एक माड़वारी, दिनभर खाना है न पीना, डफ पीटते २ हाथ रह जाता है। हौकते २ गला फटता है। कहीं अकेले दुकेले शैतान-चौकड़ी (लड़कों के समूह) में निकल गए तो कोई पाग उतारै छै, कोई धाप मारै छै, कोई कीचड़ उछारै छै। क्या करें विचारे एक तो हिन्दू, दूसरे कमजोर, तीसरे परदेशी सभी तरह आफ़त है। दूसरे नई रोशनीवाले देशभाइयों की चैलच्छ देख देख जले जाते हैं। यह चाहते हैं सब ज्यैंटिलमैन बन जायें, वहां आदमी बनना भी नापसंद है। * मुह रंगे हनुमान जी की बिरादरी में मिले जाते हैं। तीसरे दाढ़ीवाले हिन्दू दिनभर रंग अबीर धोओ, पर ललाई कहा जाती है। जो किसी ने गंधा बिरोजा लगा दिया तो और भी आफत है। सो, इतने हमने बता दिए, कुछ तुम भी सोचो।

किस पर्व में किस पर आफ़त आती है।

नौरात्र, चैत्र और कुवार दोनों में बकरों पर। हमारे कनौजिया भाई एवं बगाली भाई उन विचारे अनबोल जीवों का गला काटने ही में धर्म समझते हैं।

वैशाख, जेठ, असाढ़ वरी हैं, तौ भी छोटी मछलियों को आसन पीडा है। जिसे देखो वही गगा जी को मथ रहा है। सावन में विशेषत रक्षा-बधन के दिन फजूल महाजनों का मरन होता है, इनका कौडी कौडी पर जी निकलता है, पर ब्राह्मण-देवता मुसकें बाधने की रस्सी की भांति राखी लिए छाती पर चढ़े, घर में घुसे आते हैं।

भादों में स्त्रियों की मरदी होती है। हरतालिका पानी पीने में भी पाप चढ़ाती है! वहुत सी बुढ़ियां तमाखू की थैली गाले पर धर के पड रहती हैं। सभी तो पतिव्रता हुई नहीं, दिनभर पति से खाव २ करती है। कहीं पावें तो उस ऋषि की दाढ़ी जलादें, जिसने यह मत निकाला है।

पित्रपक्ष में आर्यसमाजी कुढते २ सूख जाते होंगे। 'हाय हम सभा करते, लेक्चर देते मरते हैं, पर पोप जी देशभर का धन खाए जाते हैं।'

कार्तिक में, खासकर दिवाली में, आलसी लोगों का अरिष्ट आता है। यहा मुंह में घुसे हुए मुच्छों के बाल हटाना मुशकिल है, यहा यह उठाव वह धर, यहा पुताव, यहा लिपाव, कहां की आफत!

अगहन पूस तो मनहूस हई हैं, विशेषतः धोबियों के कुदिन आते हैं। शायद ही कभी कोई एक आध दुपट्टा उपट्टा धुलवाता हो।

पिट पिट करके हट जायगे। आप अंगरेजी में किट पिट करके, हमें शांत करना चाहोगे, पर हमें वही "सुनटा नहीं हय चला जायगा टुम वाडमाश" सूझेगा। लाख खुशामद करोगे हम एक न सुनेंगे। हम जो कुछ लिखेंगे, आप यदि हिन्दू हैं तो वेदवाक्य समझेंगे, यदि मुसलमान हैं तो आयाते कुरान से भी अधिक मानेंगे, अगर नेटिव क्रिश्चियन हैं तो अपने मोन्त्रिङ्ग में नीम के नीचे खडे होकर के हमारे लेख को भी, सच मानिए, अपनी वाइबिल के प्रमाणों में मिलाने लगेंगे। ऐसे समय पर कहीं हम विलायत यात्रा-निषेध पर कुछ लिखें तो विद्युत् समाचार की नाईं समस्त भूमण्डल पर फैल जाय। हमको भी राजा, सर, , श्री ईसाई (C. S. I.) की पदवी मिल जाय। पर भैय्या! , हम तुम्हें यह समझाते हैं कि साहिब लोगों के ही क्या रक्तमला (सुर्खाब) का पक्ष लगा है जो उनके लेक्चर और आर्टिकलों को बिना मीमांसा ग्रहण कर लेने हो, इसमें तुम्हारा कल्याण नहीं है। "यथा राजा तथा प्रजा" का अर्थ यह नहीं है कि साहिब लोगों की नाईं आपकी लड़की भी मिसें हो जाय। आपकी रहन सहन में खडे होके पयश्राव त्याग करना सभ्य समझा जाय। आप जो इतने प्रमाण श्री महाभारतादि वृहदितिहासों और श्रीमद्भागवतादि महापुराणों से छांटते हैं कि हमारे पूर्वज विलायत जाते थे। हमने माना, किन्तु यह तो समझिए कि उन महापुरुषों ने जाके क्या २ किया था। किसीने जाके अपनी व्यवहार विद्या फैलाई थी। आप उलटे वहाँ की रीति नीति सीख आते हैं।

उन लोगों ने वहा जाके अपने सनातन धर्म का विस्तृत किया था, आप वहां से ईसाई होके लौटते हैं। आपके पूर्व-पुरुष झट से अन्य देशस्थ मनुष्यों को बिडालाक्ष, कालयवन,

विलायत-यात्रा ।

न जाने क्या दुर्दशा आई है कि लोगों को सब विलायती पदार्थ भी अच्छे लगते हैं। कदाचित् इसका कारण पश्चिमीय शिक्षा हो। लोग बाल्यावस्था में ही उन स्कूलों में भेज दिये जाते हैं जहा वही अगरेजी गिटपिट से काम पडे। चाहे कश्मीरी, खत्री आदि की भी सतति हों, पर अपने को ब्लैक कहने में आदर समझें। चाहे महाराष्ट्र वीरों के पुत्र भी हों, पर वही कि हम में अगरेजों की सी फुर्ती कहां से आई, इत्यादि। यह सब बातें लिखें तो लेख बहुत बढ़ जायगा। हमें तो केवल यह दिखाना है कि काल के परिवर्तन से जो लोग विलायत गमन के लिए कहो वेद से लेकर पुराण, कुरान आदि के श्लोक वा आयत छांट छांट के छपा दें, कहो सहस्र युक्तिया निकालके यह सिद्ध कर दें कि वहां की सी जल वायु कहीं नहीं है, वहा की रहन सहन, बोल चाल, शिष्टता मिष्टता कहीं नहीं। वहा हमारे पूर्वज तो सब जाते थे। बिना वहा के साधाच्छादन किये हमारी ब्लैकनेम (श्यामता) जा सकती है, न गौराङ्ग देवों की भी पूजार्चा मिल सकती है। अरे भाई एक ब्राह्मण चाहे सो बके, पर तुम्हारी समझ में नहीं आएगा।

पर यदि हमीं श्वेत लेप लगा लें, और अपना नाम भी रेवरेन्ड मिस्टर P Naroyegem Messur ए० बी० सी० डी० ई० छेड रख लें तो तुरत आप हमारे बगले पर आके हमसे साक्षात् करके कर-स्पर्श करने को उत्सुक होंगे। आप अपनी पाकेट से रूमाल निकालके झुकेंगे कि हमारा बूट पोंछ दें। पर हम कहेंगे "ओ हट जाओ सूअर काला"। झट से आप

कमर्विस में हज़ारों रुपए व्यय करके जब लौटोगे तो मिलैगी वही नौकरी। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि नौकरी करो ही मत, न करोगे तो जियोगे कैसे? किन्तु यह अभीष्ट है कि ऐसा उद्योग करो कि जिससे देश का धन देश ही में रहे। राज्य दूसरों का है, कुछ न कुछ धन तो अवश्य ही विदेश जायगा। यह बात तो पत्थर की लकीर ही है। पर ऐसा उद्यम करो, जिससे यथोचित द्रव्य के अतिरिक्त एक कौडी भी विदेश को न जाय। यदि सैर ही के प्रयोजन से विलायत जाते हो तो तनिक चेत करके देखिए तो हमारे वैसे दिन नहीं रहे। यदि ऐसी ही इच्छा है तो श्रीवृन्दावनादि तीर्थों को रमणीय करने की चेष्टा कीजिए। नहीं तो यह पवित्र स्थान एक तो वैसे ही पूर्वापेक्षा कुछ न्यूनतर रमणीय हो गए हैं, दूसरे तुम और कर देंगे।

मुसलमानों के अत्याचार से तो मंदिर भग्न हुए, अब तुम्हारे विलायत आदि जाने के व्यय में अकेले तीर्थ ही क्या तुम्हारे सब गृहादि प्राणरहित देह के समान हो जायगें। जिस दिन तुम विलायत में जाकर अपने आचार-व्यवहार फैलाओगे, और जैसे अन्य देशियों की रीति नीति तुम सीखते हो वैसे दूसरों को भी अपनी नीति सिखाओगे, उस दिन तुम्हें कोई बुरा न कहेगा, और कोई जातिभ्रष्ट न कहेगा। बोल श्री नन्दनन्दन की जै—

(१) मयदानव (२) नामधर लेते थे। आप ब्लैक, डैमड्फूल वन के फूल से खिल जाते हैं कि इन अधरों से भला इतना तो भी सुना। अभी तो आप इस बात पर हंसते होंगे कि हम भी किस मुल्क में उत्पन्न हुए, जहा लोग जहाज पर नहीं चढ़ते, जहा खड़े होके नहीं मूतते जहां लोग हाइड्सपार्क (३) की सैर नहीं करते, जहा स्त्री स्वच्छन्द नहीं विचरतीं, जहा कागज का एक काम तो लोगों को विदित ही नहीं, केवल लिखने, छपने, टोपी बनने आदि के ही काम में आता है इत्यादि। पर यह न समझते होंगे कि हमारे देश की एक २ रीति पर चाहे और देश के आदमी असभ्यता का दोष आरोपण करें, किन्तु कुछ नहीं, कहीं धूलि के उडने से भानु प्रतापहीन होते हैं। हा इतना तो हो जाता है कि भानु दिखाई न दें। पर ज्योंही धूलि हटी त्योंही भगवान वैसे के वैसे ही। सिविलसर्विस है तो सर्विस ही न, फिर क्यों उसके लिए बिना बुलाए अपनी लक्ष्मी को समुद्र-पारों में भेजें। एक सिविलसर्विस के लिए जितना रुपया व्यय किया जाता है, और एक साल जितने मनुष्य परीक्षा देने विलायत जाते हैं उतने रुपयों के यदि हमारे देश में कोई सद्व्यय होने लगें तो क्या ही आनन्द का विषय हो। सिवि-

---

(१) अरब का रहनेवाला था। हर समय काल दूतमाला, काल, हुजैद कहा करता था। झट से महर्षियों ने "कालयवन" नाम धर दिया।

(२) फारस का रहनेवाला था। जब कोई वस्तु चाहता था तो खिदुर जा से कहता—"रगे जर्द म ख्वाहम्" झट से मै (मय) नाम पड़ गया।

(३) हाइड्सपार्क—जहा से लन्दन योजन भर दूर रहती है। लंदन का एक बाग।

मदएव क्षत्रियत्व का देप नहीं पड़ता। पर हमारे ठाकुर साहब के नामों में, चेहरे मोहरे में एक प्रकार की वीरता आज भी झलकती है। इससे हम क्या एक विदेशी भी कह देगा कि यह बहादुर क़ौम है। पर विचार के देखो तो स्वजातिहिता न्वेषण के मैदान में जितना मुंशीजी का और खत्री साहब का कदम आगे बढ़ा हुआ है उतने ही राजपूत महाशय पीछे पड़े हैं। इनमें जातिहितैषियों की संख्या कदाचित् उंगुलियों पर गिनी जांय। इन्हीसे इनके देखे वे समुन्नत हैं।

वैश्यों में हमारे ओमर दोसर जो हम कान्यकुब्जों ही की जिह्वा से नहीं, वरन्च जगत् के मुख से बनिया ही के नाम से लक्षित हैं, वे फूट का मूलारोपण और फलास्वादन में हमारे मुख्य शिष्य हैं। पर अग्रवाले महोदय जो समय के फेरफार तथा पश्चिमीय जल वायु के संस्कार से कुछ २ मिया भाइयों की लटक पर आ गये हैं, वे अपने चार भाइयों की दया सम्पादन करके ऐक्य के मधुर फल को पूर्ण रीति से नहीं तो भी कुछ तो पा ही रहे हैं। मारवाड़ी भाई यद्यपि विद्या से वञ्चित और दोनों प्रकार के ऐश्वर्यों से अलग है, पर एका उनमें ऐसा है कि ओमर दोसर और अगरवाले महेसरी तो क्या, हम मनाते हैं, परमेश्वर हमारे ठाकुर साहब और दूसरे को भी सिखावे। धन्य है, देश से आते देर नहीं और सेठ जी बन जाते देर नहीं। चाहे नित्य दिवाला निकले, पर "अपणा भइयांने कौडी ने रुलणांगा"। हमतो इस बुद्धि को देवताओं ही की बुद्धि कहेंगे।

रहे शूद्र, जो सब की दृष्टि में नीचे हैं, पर पाच पच का ढेर सहायता, स्नेह का पूर्ण सुख भोगते हैं। इसीसे कहते हैं कि "ऊच निवास नीच करतूती, देखि न सकहि पराय बिभूती"।

ऊंच निवास नीच करतूती।

बंगाली ब्राह्मण अपने को कान्यकुब्जों का वंश बताते हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि जो लोग आज भी कान्यकुब्ज देश ही के इधर उधर रहते हैं, और कान्यकुब्ज ही कहलाते हैं वे अधिक श्रेष्ठ हैं। क्योंकि देश, भेष, भाषा, आचार, व्यवहार सभी कुछ बना है। भला यह श्रेष्ठ न होंगे तो क्या वे होंगे जिनका नाम भी और हो गया। पर जब हम देखते हैं कि बंगाली भाया (महाशय) एक शूद्र, निर्धन, अविद्य और उदासीन (न मित्र न शत्रु) बंगाली के हितार्थ एतद्देशीय अत्युच्च ब्राह्मण बड़े भारी अमीर, महापंडित एवं परम मित्र को कुछ माल नहीं गिनते, परसों की मित्रता छोड़ नए परिचयी की ओर हो जाते हैं, यहां तक कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द ही को वे अन्तःकरण से तुच्छ समझते हैं। पर हमारे रौरे जी (कनौजिया भाई) की अकिल पर ऐसे पाथर पड़े हैं कि दुनिया भर की चाहे लातैं खाय आवैं, पर अपने को अपना समझैं तो शायद पाप हो। कनौजियाय में बट्टा लग जाय। धाकर तो धाकर ही हैं। अच्छे भकभकौआ बड़कुल का भी पक्ष करना नहीं सीखे। यही कारण है कि विद्या में, बुद्धि में, राजद्वार में, प्रतिष्ठा में बंगाली भद्र पुरुष हैं, (यदि आज न हों तो कुछ दिन में अवश्य बाबू लोग बनाय लेंगे) और यह कुलीन दादा कुली नहीं तो मजदूर अवश्य ही हैं।

इधर क्षत्रियों में देखिए तो हम यह नहीं कह सकते कि खत्री और कायस्थ क्षत्री नहीं हैं, पर डील डौल, नाम काम, पहिरावे उढावे में नज़ाकत आ जाने से और यज्ञोपवीत तथा सामयिक राज भाषा के अभ्यास के अतिरिक्त और कोई

के समय शिर के ऊपर से धारा बहती है, यह शिव जी का अंग है। बाहर निकलते ही मुख में वेद का कोई मंत्र या वेदवद्य परमेश्वर का कोई नाम होता है, जो ब्रह्म का रूप है। क्यों, तीनों हो गये ? हमारे मित्र मुंशी कालीचरण साहब 'सेवक' कवि की एक सवैया इसी मतलब में है, यथा —

सेवक तीर पै ठाढो भयो पद है यहि विष्णुता गंग दई है,
न्हात समय सिर तें कढ़ी ताछन शंकर लौं शुभ शोभा भई है।
बाहर आय पढ़े श्रुति मंत्र तबै विधि को पद साची ठई है,
आय त्रिगामिनि तीर त्रितापिहु होत सदेह त्रिदेवमयी है।

वरंच हमारे रसिकों को इन्द्र पदवी अधिक प्राप्त होती है, क्योंकि हजार आंखे मिलती हैं, इसका अर्थ समझना मुश्किल नहीं है। अहा हा!

नजर आता है हरसू गट परीयो हूरो गिलमां का।
मिले है रादे गंगा में ऐमें रुतया सुलेमा का।

प्रेमाधार हैं। धन्य गंगे! सर्वदेवमयी गंगा जिन्होंने कहा है, निहायत ठीक कहा है, क्योंकि—

शिव शिर मालति माल भगीरथ नृपति पुण्य फल,
ऐरावत, गज गिरिवर पविनव कठमालकल।
श्री हरिपद नख चन्द्रकांतमणि द्रवित सुधारस,
ब्रह्म कमंडल मंडन भवखंडन सुर सरवस।

—इत्यादि वाक्यों का स्मरण होते ही तबियत को ताजगी होती है। फिर तुम्हें अमृतमयी क्यों न मानें?

बहुतों का विश्वास है, बहुत पोथियों में लिखा है कि गंगा स्नातक मरणानन्तर शिवत्व अथवा विष्णुत्व को प्राप्त होता है। श्रीमान् कविवर अब्दुल रहीम खां खानखाना, जो अकबर के समय में संस्कृत और भाषा के बड़े अच्छे वेत्ता थे, उनका एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

अच्युत चरण तरंगिनि! शशिशेखर मौलि मालतीमाले!
मम तन वितरण समये हरता देया न मे हरिता।

अर्थात् विष्णु बनाओगी तो मुझे कृतघ्नता का दोष होगा, क्योंकि तुम उनके चरण से निकली कहाती हो। अतएव शिव बनाना, जिसमें तुम्हें शिर पर धारण करूं। अन्य मतवाले देख लें कि अच्छे मुसलमान भी हमारी गंगा को क्या कहते हैं। फिर उन हिन्दुओं को हम क्या कहें जो गंगा की प्रीति नहीं करते!

हमारी समझ में मरने पर क्या होता है, यह नहीं आता। पर जीते जी ब्रह्मा, विष्णु, महेश बना देती हैं, यह तो हम प्रत्यक्ष दिखा देंगे। किनारे नहाने को खड़े हो तो पावके नीचे गंगा बहती हैं, यह विष्णु भगवान् का चिह्न है। डुबकी लगाने

दशा होगी ? यही विचार कर कई नगरों में चंदा, गोशाला,
सभा, लेक्चर इत्यादि हो भी चले, परन्च बाजे २ गाम्य
शाली शहरों में धर्मिष्ठ मुसलमान भी शरीक हैं। परमेश्वर
उनका सहायक हो। पर बड़े खेद और लज्जा का विषय है
क इस कानपुर में, जहां हिन्दू ही अधिक हैं, विशेषतः
ब्राह्मण ही जो धन, विद्या, प्रतिष्ठा आदि सामर्थ्य विशिष्ट हैं,
परन्तु इस बात में यदि दूसरे चौथे वर्ष किसी के हुलियाए २
कुछ मन भी करते हैं तो बस कुछ दिन टाय २ पीछे से फिस्स।
जहां कोई झूठ मूठ का बेसिर पैर का बहाना मिल गया वहीं बैठ
रहे। यदि किया चाहें तो केवल दो चार लोग मिल के सब
कुछ कर सकते हैं, पर हौसिला नहीं है। हजारों रुपया व्यर्थ
उठाते हैं, पर इस विषय में मुंह चुराते हैं। इन शहरवालों
से तो हम अपने सुहृद अकबरपुरवासियों की धर्मनिष्ठता,
ऐक्यता, उद्योग, उत्साह और साहस की सराहना करेंगे,
जहां श्रीयुत पण्डितवर बद्रीदीन जी सुकुल, श्रीयुत बाबू तुल-
सीरामजी अग्रवाल और श्रीयुत लाला टेकचन्द्र महोदयादिक
थोड़े से सज्जनों के आन्दोलन से दोही महीना के भीतर
अनुमान छः सौ के रुपया भी एकत्र होगया, सभा भी चिर-
स्थायिनी स्थापित हुई है, व्याख्यान भी प्रति सप्ताह मनोहर
होते हैं, और सब ने कमर भी मज़बूती से बांध रक्खी है।

क्यों भाई नगरनिवासियो! अधिक न करो तो अपने
जिले के लोगों को कुछ तो सहाय दोगे? जहां सैकड़ों की
आतशबाजी फूंक देते हो, हजारों दिवालियों को दे बैठते हो,
अदालत में उड़ाते हो, वहां गऊ माता के नाम पर कुछ भी
न निकलेगा? धर्म, नामवरी, लोक परलोक का सुख सब है,
पर हौसिला चाहिए।

गोरक्षा।

गौमाता की महिमा इससे अधिक क्या वर्णन की जाय कि देवता, पितर, मनुष्य, स्त्री, लडके, बूढ़े, सभी उनके अमृत समान दूध से तृप्त होते हैं। माननीया ऐसी हैं कि देश भर माता कहता है, जगत्पूज्य ब्राह्मण नाम के भी पहले स्मरण की जाती हैं, 'गऊ ब्राह्मण'। भगवान का नाम भी उन्हीं के नाते गोपाल कहाता है। पवित्रता यह है कि उनका मलमूत्र तलक खाया जाता है। उपकार उनके अनत हैं। स्वयं तथा सतान द्वारा मरते जीते, लोक परलोक सब में हित ही करती हैं। ऐसी २ बातें एक लडका भी जानता है। फिर हम भी कई वार लिख ही चुके हैं, बार बार पिष्टपेषणमात्र है।

यह बात भी पूर्णतया विदित है कि बीस वर्ष भी नहीं भए, घी दूध कैसा सस्ता था, और उसके खाने से अब भी जो लोग पचास वर्ष के कुछ इधर उधर हैं कैसे बली और रोगरहित हैं। वे अपनी जवानी की कथा कैसे अहंकार से कहते हैं कि आजकल के लड़के एव नाजुक बदन रोगसदन जवान लोग सपने में भी उस प्रकार के सुख भोग के योग्य नहीं हो सकते। जहा स्वादिष्ट और बलकारक भोजन तक स्वेच्छापूर्वक न मिलें वहां और सुखों की क्या कथा है।

यह भी अच्छी तरह सब जानते हैं कि प्रजावत्सल सर्कार इस विषय में अपनी ओर से क्या, हमारी विनय सुन के भी सहाय करती नहीं दीखती। याजे २ हठी मुसलमान कुरान और हदीस के वचन सुने अनसुने करके अपनी जिद का निबाह करेंगे, इस मामले में हमारा साथ न देंगे। फिर यदि हम भी कुछ न करें तो दसही पाच वर्ष में हमारी क्या

ईश्वर की इच्छा, काल की गति, वर्तमान राजा की नीति, चाहे जो कह लीजिए, पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि हमारे नाश का मुख्य कारण हमारी ही मूर्खता है। नहीं तो कुत्ते भी जहां बैठते हैं, वहां पूछ हिला के बैठते हैं। पर हमने अपनी चाल उनसे भी बुरी कर रक्खी है कि जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसी के बनने बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते। हमारे वे पूर्वज मूर्ख न थे जिन्होंने धरती को माता एवं शिवजी की आठ मूर्तियों में से एक मूर्ति कहा है, तथा उसके पूजने की आज्ञा दी है। वे भली भांति जानते थे कि संसार में जितने पदार्थ हैं सबकी उत्पत्ति और लय इसी में और इसी से होती है।

हम सारे श्रम धम इसी पर करते हैं, हमारे सुख-भोग की सारी सामग्री हमें इसी से प्राप्त होती है। फिर इसके माता होने में क्या सन्देह है। यदि इस माता के प्रसन्न रखने में उद्योग न करते रहेंगे तो हमारी क्या दशा होगी? अब इस समय के अनेक विदेशी विद्वानों को भी निश्चय हो गया है कि यदि कोई पुरुष नित्य शरीर पर साफ चिकनी मिट्टी लपाया करे वा प्रतिदिन कुछ काल उसमें लोटा करे तो शरीर, मस्तिष्क एवं हृदय को बड़ा लाभ पहुंचता है। हमारे यहां के अपठित लोग भी जानते हैं कि मट्टी देही को पालती है पर यदि हम मट्टी को शुद्ध न रक्खें, उसके अशुद्ध करनेवालों को न रोकें, शुद्ध मट्टी प्राप्त करने में आलस्य अथवा लोभ करें तो हमारा ही अपराध है कि नहीं? और उस अपराध से मट्टी लगाने तथा उसके लाभ उठाने से हम वंचित रहेंगे कि नहीं!

ऐसे ही मट्टी को तथा यावत् वस्तुओं की खानि हमारी धरती माता यदि निर्बीजा होती रहेंगी, जैसी आजकल हमारी बेपरवाई से होती जाती हैं तो इसमें भी कोई आश्चर्य

धरतीमाता।

आजकल हमारे देश में गौमाता के गुण तथा उनकी रक्षा के उपाय एवं तज्जनित लाभ की चर्चा चारों ओर सुनाई देती है। यद्यपि दुष्ट प्रकृति के लोग उसमें बाधा करने से नहीं चूकते, और बहुत से कपटी रक्षक बन २ के भी भक्षक का काम करते हैं, अथवा कमर मजबूत बांधके तन मन धन से इस विषय का उद्योग करनेवाले भी श्री स्वामी आलाराम, श्रीमान् स्वामी और पंडित जगतनारायण के सिवा देख नहीं पड़ते। नामवरी की लालच, आपस का वैमनस्य, सर्कार की स्वार्थपरता या बेपरवाई इत्यादि कई अड़चनें बड़ी भारी हैं, पर लोगों के दिलों पर इस बात का बीज पड़ गया है तो निश्चय है कि कभी न कभी कुछ न कुछ हो ही रहेगा। पर खेद का विषय है कि हमारी धरती माता की ओर अभी हमारे राजा प्रजा किसी का भी ध्यान नहीं है। हम अपने दिहाती भाइयों को देखते हैं तो सदा स्वच्छ वायु में रहते और परिश्रम करते एवं अनेक बलनाशक दुर्व्यसनों से बचते हुए भी अधिकांश निर्बल ही पाते हैं। यद्यपि बुद्धिमानों का महानुभूत सिद्धान्त है कि "उत्तम खेती मध्यम बान, निषिद्ध चाकरी भीख निदान", पर आज कल कृषिजीवी ही लोग अधिक दरिद्री पाए जाते हैं। कितने शोक की बात है कि जिनके घर से हमारे नगरवासी भाइयों को अन्न-वस्त्र मिलता है उन्हीं को रोटी-लंगोटी के लाले पड़े रहते हैं।

हमारे बुद्धिमान डाक्टर और हकीम जिन बातों को स्वास्थ्य-रक्षा का मूल बतलाते हैं उन्हीं कामों को दिन रात करनेवाले यथोचित रीति से हृष्ट पुष्ट न हों, इसका कारण क्या है?

हमारे देश में वृक्षों का नाश होने लगा, तभी से हमारी धरती-माता जीर्ण हो गई। वर्षा की न्यूनता और रोगों की वृद्धि हो गई। यदि अब भी हमारे देशहितषी भाई धरती का भला चाहते हैं तो वृक्ष और घास का नाश होना रोकें। लोगों को उपदेश देना, अपनी जमीन पर के पेडों को न काटना—सदा उनकी संख्या बढाते रहना—सरकार से भी इस विषय में प्रार्थना करते रहना इत्यादि ही उपाय हैं। पीपल का वृक्ष पोला होता है, वह औरों से अधिक जल खींचता है। इसीसे उसका काटना वर्जित है। जहां तक हो सके उसको तो काटने से अवश्य ही बचाइए। बरगद, आंवला इत्यादि दूधवाले वृक्षों (जिनमें दूध निकलता है) से और भी अधिक उपकार है। आप जानते हैं, पानी की अपेक्षा दूध अधिक गुणकारी होता है, सो भी वृक्षों का दूध। जिसका प्रत्यक्ष फल यह है कि बरगद का दूध, गूलर के फल निर्बलों के लिए बडी भारी दवा है। *भला उनसे सूर्यनारायण कितनी सहायता पाते हैं, तथा* उनके काटने से कितना धरती माता को दुःख होता है, इसको हम थोडे से पत्र में कहां तक लिख सकते हैं? हमारे रिखियों ने जेठ में वटपूजन एव अन्यान्य मासों में दूसरे वृक्षों का पूजन कहा है, इसका हेतु यह था कि सूरज की प्रखर किरणें उनका दूध सुखा देती हैं वह घाटा उनकी जड में दूध डालके तथा फूल और अष्टगंध की सुगंध से पूरा करना चाहिये।

पर शोक है नये मतावलम्बियों की बुद्धि पर कि उन्होंने मूर्खता से ऐसी हिकमतों को जड वस्तु की उपासना समझा है। अरे भाई अपना भला चाहो तो मतवाले न बनो। प्रत्येक वृक्ष की रक्षा, वृद्धि और सनातन रीति से जल दुग्धादि द्वारा उनको सींचना स्वीकार करो।

दबी हुई आग।

यदि किसी ठौर पर आग लगे, धधक उठे, तो हम अनेक उपाय से तुरन्त उसे बुझा सकते हैं। पर जो आग किसी वस्तु में दबी हुई सुलग रही हो, और कोई उसे बतलानेवाला न हो तो उस अग्नि से अधिक भय है। आज कल परमेश्वर की दया से हमारे धर्मरूपी भवन के अग्निवत् ईसाई मत का प्रत्यक्ष प्राबल्य तो शांत होने के लगभग है, पर अभी ईसाइयों की एक कार्रवाई ऐसी फैली हुई है कि यदि उसका उपाय अभी से कमर बांधके न किया जायगा तो एक दिन दबी हुई आग की भांति वह महा अनिष्ट करैगी। अभी पचास वर्ष भी नहीं हुए कि हमारे अभाग से भारत में ईसाईपन की आग पूरे ज़ोर शोर के साथ धधक रही थी। माईकेल मधुसूदन दत्त, क्रिष्टोमोहन बनर्जी नीलकंठ इत्यादि विद्यावानों का स्मरण करके हमको आज तक खेद होता है कि हाय यह लोग यदि हमारे समाज से बहिष्कृत न हो जाते तो कितना उपकार न करते। पर हाय वह समय ही ऐसा दुस्समय था कि लोग पढ़ने लिखने के साथ ही पादरियों के जाज्वल्यमान अग्नि समूह में स्वाहा हो जाते थे। परमेश्वर ने बड़ी दया की कि स्वामी दयानन्द, बाबू केशवचन्द्र मुंशी कन्हैयालाल आदि पुरुषरत्नों को उत्पन्न कर दिया, जिनके वचनरूपी वरुणास्त्रों से क्रिस्तानी की भयानक अग्नि बहुत कुछ शांत हो गई। अब अधिकतर यह संभव नहीं है कि पढ़े लिखे, प्रतिष्ठित, कुलीन में शामिल होके दुर्दैव साहब के दस्तरखान में धर दिए जांय। हम एक बार अनेक विद्वानों के मतानुकूल लिख चुके हैं कि हजरत ईसा एक पूजनीय पुरुष थे,

और उनके उपदेश भी मानवजाति के महाहितकारक हैं। पर ईसाई हो जाना, या यों कहो कि पादरियों के मायाजाल में फंस जाना, ऐसा अनिष्टकारक है कि मनुष्य, देश हित, और जातिहित से सर्वथा वञ्चित हो जाता है। हमारे ईसाई भाई जिस जाति और जिस देश के भए उपजे हैं, उनसे न उन्हें कुछ ममता रहती है न प्रेम, फिर उनसे क्या आशा की जाय। इस बात को हमीं नहीं समझते, ईश्वर के अनुग्रह से सहस्रों लोग समझने लगे हैं। यह बात अब समझदारों की समझ में आना दुर्लभ है कि महात्मा मसीह ने मुक्ति का ठेका ले लिया है, विश्वास की महिमा से तो ईसा क्या हम चौराहे की ईंट पूजने वालों की भी प्रतिष्ठा करते हैं, पर मतवाद में हिन्दुओं से अब पादरी साहबों का जीतना डबल रोटी का गस्सा नहीं है। ऊपर से पादरी लोग हमारे ईसाई भाइयों का पक्ष नहीं लेते। बहुत से मसीही दाने २ को मुहताज हैं, इससे और भी सर्व साधारण की अश्रद्धा हो गई है। पर छोटे २ कोमल प्रकृति-वाले नासमझ बालकों को बचाना हम हिन्दू मुसलमानों का परम कर्तव्य है। उन्हें परमेश्वर न करे पादरियों की चिकनी-चुपड़ी बातें असर कर जाय तो हमारी नई पौध निकम्मी हो जायगी। यही दूरदर्शिता सोचके अनेक सज्जन मिशन-स्कूल में अपने लड़कों को नहीं पढ़ाते। क्योंकि वहां और पुस्तकों के साथ इंजील भी अवश्य पढ़नी पड़ती है। हम इंजील को बुरा कदापि नहीं कहते, वह भी धर्म का एक ग्रन्थ है, पर उसके पढ़नेवाले यदि अन्य धर्म के द्वेषी न हों। पर हम खेद के साथ प्रकाश करते हैं, कहीं २ मिशन स्कूलों में चदन लगाना और गंगा नहाना तक निन्दनीय गिना जाता है!

अभी हाल ही में मदरास के गिरजरी साहब ने अपना जूता

दिखाके बिचारे आर्य बालकों से कहा था—'यह तुम्हारे देवता है'। भला ऐसे २ अनर्थ देख सुनके किसको मिशन-स्कूलों की शिक्षा से घृणा न होगी? महा अभागी वह नगर है जहां मिशन स्कूलों के सिवा दूसरा स्कूल न हो। हम अपने कानपुर की इस विषय में प्रशंसा करते हैं कि जहां बालकों की शिक्षा मिशन ही पर निर्भर नहीं है। लोग गवर्नमेन्ट स्कूल और जुबिली स्कूल के आछत अपने सन्तान को हिन्दु धर्म का अश्रद्धालु बनावें तो दूसरी बात है, पर सुभीता परमेश्वर ने दे रक्खा है कि धर्म में भी बाधा न डालो, और राजभाषा भी पढ़ लो।

हमारी समझ में हर शहर के लोगों को चाहिए कि अपने २ यहां कमसे कम एक पाठशाला ऐसी अवश्य स्थापित करें जिसमें केवल हिन्दू-मुसलमानों का अधिकार रहे, और अन्य शिक्षा के साथ धर्म तथा नीति भी सिखाई जाय। इससे क्रिश्चियानिटी की प्रत्यक्ष आग का रहा सहा प्राबल्य भी जाता रहेगा। पर एक दबी हुई आग अभी ऐसी पड़ी है जिस पर कोई ध्यान नहीं देता। अभी उसका बुझाना सहज है, नहीं तो पीछे बड़ी भारी हानि करेगी। स्कूलों में बहुधा स्याने लड़के भेजे जाते हैं और वहां की आग भी धधकती हुई है। इससे इतना डर नहीं है, पर महाजनी पढ़ानेवाले भैया जी के यहां सदा बहुत ही छोटे लड़के पढ़ते हैं वहां ईसाइयों का घुसना किसी तरह ठीक नहीं। लड़के तो लड़के ही रहे, बहुधा गुरुजी स्वयं नहीं जानते कि इन महापुरुषों से क्या हानि संभव है। ईसाई साहब वहां बिन रोक टोक कह सकते हैं कि 'लड़का तो लड़का मास्टरन के उड़ाई लाए' यहां उन्होंने यह लीला फैला रक्खी है कि प्रायः सब

महाजनी शिक्षकों को दो चार रुपया महीना देते हैं, और बहुत सी मीठी २ बातों में उन्हें फुसलाके प्रति सप्ताह में दो या एक दिन हिन्दू बालकों को पादरियाई शिक्षा देने जाया करते हैं। कभी २ छोटी २ तसवीरें, कभी किताबें, कभी मिठाई आदि भी बांटते हैं। जिससे नादान बच्चे और भी मोहित होके लालच के मारे और भी ध्यान देके उनकी बातें सीखें, और अपनी रीति, नीति धर्म-कर्म, देव-पित्रादि को तुच्छ समझने लगें। मैंने सब देखा है कि जिन बालकों के माता पितादिक नीच जाति के हिन्दू को छू के न्हाते हैं उन बालकों को गोद में बिठाके साहब ने मुंह चूमा ! लड़के बिचारे को तो यह तालीम दी गई है कि सब एक मा बाप से पैदा हुए हैं, जात पात मानना पाप है। और तालीम भी किसी यूरोप-वासी ने नहीं दी कि वह हमारे आचार से अज्ञात हो, वरंच उन साहब ने शिक्षा दी है जिनके माता पिता भंगी चमारादि नीच थे! भला शिक्षा देनेवाले यह और शिक्षा यह कि—

"माला लकड़, ठाकुर पत्थर गंगा निरबक पानी,
रामकृष्ण सब झूठे भैया चारो वेद कहानी"

तो बतलाइए, इसका असर हमारे दुधमुहे बच्चों के जी पर कैसा २ अनर्थ न मचावेगा ! लड़कपन की सीखी बातों का संस्कार जन्म भर बना रहता है, यह बात सब जानते हैं। क्या यह उपदेश, यह ईसा के गीत, यह ईसाइयों का मिथ्या प्रेम, हमारे नई पौध के हक में छिपी हुई आग नहीं है? हमारी समझ में सब बातों से पहिले इसके बुझाने का यत्न होना चाहिए। हम अपने देशहितैषी भाइयों से आशा करते हैं कि जहां मेलों और बाजारों में ईसाइयों का मुकाबिला करते फिरते हैं वैसे महाजनी पढ़ानेवालों को भी समझावें

कि दो चार रुपये के लालच से यह अनर्थ न करें। कभी कभी लडकों के सामने भी उनको शास्त्रार्थ में निरुत्तर करते रहें, जिसमें लडकों को उनकी पोल पाल मालूम होती रहे। लडकों के माता पितादि को भी समझावें कि जहा चार आने आठ आने महीना देते है वहां दो चार पैसे भैया जी को और दे दिया करें, जिसमें उन्हें किस्तानी धन का घाटा भी न पडे, और प्रसन्नतावर्धक उन्हें अपने यहा न आने दें। यदि इतने पर भी उन्हें लोभदेव न छोडें तो लडकों को वहां भेजना बंद कर दें। बस यही उपाय है, जिससे यह अनर्थ कारिणी दबी हुई आग बुझ जायगी। नहीं तो याद रहे कि खजूर की ईंटें ऊपर ऊपर नहीं जातीं। एक दिन वह अवश्य आवेगा कि जिस नई पौध के लिए हम अनेक पत्र, अनेक पुस्तकें, अनेक सभा, अनेक लेक्चर, अनेक प्रीच करते है, जिस नई पौध से हमें बडी २ आशा है, वह नई पौध इस दबी आग में झुलस के रह जायगी, और हमारा इस काल का सारा परिश्रम व्यर्थ होगा। स्वर्ग में भी हमारी आत्मा पछताएगी कि 'समय चूक फिर का पछिताने।'

बलि पर विश्वास।

इस बात का विश्वास मसीही धर्म का मूल है कि ईसा
हमारे पापों के लिए बलि हो गये हैं। अर्थात् हमें पापजनित
दुःख से छुड़ाने के निमित्त अपने प्राण दे दिये हैं। सच्चे ईसाई
इस कारण से उनकी कृतज्ञता प्रकाशनार्थ अपना तन, मन,
धन, जाति, कुटुम्ब, वरंच प्राण तक निछावर कर देने में
ईश्वर को प्रसन्न करना मानते हैं, और अपने, अज्ञात दशा में
किए हुए, पापों के फलभोग से निश्चिन्त रहते हैं। यदि विचार
के देखो तो प्रत्येक स्थान पर कोई २ ईश्वर के प्यारे होते हैं
जो लोकोपकारार्थ बलि हो जाते हैं, और कृतज्ञ-समुदाय
को योग्य है कि ऐसे उपकारियों का गुण मानके उनके लिए
एवं उनके नाम पर जहां तक हो, कुछ प्रत्युपकार करें। यदि
प्रणपूर्वक उनकी किसी बात का कुछ लोग अनुसरण करें तो
संसार का महोपकार सम्भव है। खीष्टीय धर्मप्रचार के
आरम्भ में बहुत से लोग महा २ विपत्ति झेल चुके हैं, यहां तक
कि जीते जला दिए गए हैं। पर यह कहने से नहीं रुके कि
ईसा ने हमारे लिए प्राण दिए हैं, हम उसका उपकार क्यों
न मानें।

उन्हीं की दृढ़ता का फल है जो पृथ्वी के प्रत्येक भाग
ईसा का मत गौरव के साथ फैल रहा है। बड़े २ बादशा
बड़े २ विद्वान बपतिस्मा लिए बैठे हैं। परन्तु हम यह
कह सकते हैं, उन्हीं के धर्मदार्ढ्य का फल है, (प्रत्यक्ष
या परंपरा द्वारा) कि कई असभ्य देश सभ्य हो गए। हम
तात्पर्य इस कई, जित समाज जेता हो गए, लेख से यह
है कि हमारे प्रिय पाठक भी सत्य सनातनधर्म छोड़ निज

से मुह मोड पादरियों के पछलगुआ बन बैठें। पर अच्छी बातें जिसके यहां से मिलें, लेना श्रेयस्कार हैं। क्या हमारे धर्म में उपकारी की कृतज्ञता वर्जित है? जबकि कुत्ता भी अपने टुकड़ा देने और चुमकारनेवाले के साथ प्रीति निभाता है तो मनुष्य क्या उससे भी गए बीते हैं कि अपने हितैषियों के अनुगृहीत न हों, जिनको हम विधर्मी और निंद्य कहते हैं उनमें इतनी कृतज्ञता है तो क्या हमको कृतघ्न होना चाहिये? अन्य सम्प्रदायी जिन बातों को करते हों उनके ठीक विरुद्ध चलना हमारे यहां कहीं नहीं लिखा।

फिर हम इतरों की भली बातों को क्यों छोड दें? यदि विचार के देखिए तो मसीह कोई धनी और विद्वान् न थे कि कोई बडा उपकार कर सकते। उपदेश भी केवल अपने शिष्यों ही को देते थे। जिन बिचारों ने ईसा के नाम पर अनेक दु ख सहे उनका कभी ईसा ने नाम भी नहीं लिया। हमारे यहां तो पुरुषरत्नों ने अपना तन, मन, धन, विद्या, प्रतिष्ठा सब कुछ केवल हमारी उन्नत्यर्थ लगा दिया, और हमारे लिए हाय २ करते २ हुए काल का कौर हो गए। पर हम उनको मानों भूल गए।

दयानन्द स्वामी घर की तहसीलदारी छोड के फकीर भए थे, विद्या भी साधारण न थी, रूप भी दर्शनीय था, बु॒ में भी चमत्कार था। क्या वह चाहते तो दस बीस रालाओं को भी न मूडते, दो चार गाव भी अपने मुट्ठी में न कर लेते, दो चार वारांगना भी नित्य सेवा में न रखते, अथवा विशुद्ध विराग धारण करके देवता न बन जाते?

केशव बाबू क्या कहीं के जज वा बडे बारिस्टर बन के लाखों का द्रव्य और लाखों सुख न भोग डालते? हमारे भार

तेन्दु क्या दस पांच कोठियों के स्वामी न बन सकते थे, सर्कार के यहां से "सी० एस० आई० अथवा अनार्यरी मजिस्ट्रेट न हो सकते ? पर उन्हें तो यह धुन थी कि आर्यवंश हमारे होते डूबने न पावे। इसी लिए अपना बहुत सा धन, बहुत सा समय, बहुत सा सुख त्याग दिया, बहुतेरों की गालिया सही, और हमारी ही चिन्ता की चिन्ता पर सो गए! क्या न्याय यह नहीं कहता कि यह लोग हिन्दुओं के लिए शिर मुडा के घर फूक तमाशा देख के बलि हो गए।

बहुतेरों का स्वभाव होता है कि कैसी ही बात कहो, काई पक्ष जरूरनिकालते हैं। ऐसे जन कहते हैं कि स्वामी जी एवं बाबू जी अपना नाम चाहते थे। इसका सहज सा उत्तर यों है कि नाम तो विषयासक्ति और अपव्यय से भी लोग पा सकते हैं, देश की फिकर क्यों करते। यदि माम ही लो कि नाम ही चाहते थे तो विचारों ने खोया अपना सर्वस्व, सो भी परार्थ, और चाहा केवल नाम। आपको इसमें भी ईर्षा है तो नाम भी न लीजिए गालिया दिया कीजिए। पर विचारशीलता यदि कोई वस्तु है तो वह अत करण से यही कहेगी कि—

पर हित लागि तजै जो देही,
सन्तत सन्त प्रशसहिं तेही।

यदि कृतज्ञता कोई पदार्थ है तो वह अवश्य कहेगी कि ऐसों का गुण मानना, ऐसों की प्रतिष्ठा तन मन-धन से करना धर्म है, और अपने तथा देश के लिए श्रेयस्कर है। भारत सन्तान-मात्र इनके ऋणी हैं इनके नाम पर अपना जो कुछ वार दे, वह थोडा है। कृतघ्नता के पाप से तभी हम मुक्त होंगे, जब इनकी महिमा दृढ रखने का प्रयत्न करें। नहीं शास्त्र

के अनुसार जिसका धन लिया है उससे विना दिए उद्धार नहीं होता। जिसका सब जीवन ही हमारे हेत लग गया है, उससे कैसे उऋण होंगे, जब तक जन्म भर उसके लिए अपना सर्वस्व न लगाते रहें। ऐसा करने से ही भारत का गौरव है। नहीं तो स्मरण रहे कि पृथ्वी है भगवती का रूप, और भगवती बलिप्रदान से सन्तुष्ट होती है, हमारे ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि बिचारे अनबोल बकरे की हत्या करने से भगवती प्रसन्न होती हैं। यों होता तो उनका नाम जगदम्बा न होता, वरच जगद्भक्षिणी होता। सच यों है कि ईश्वर की तीन महाशक्ति हैं—श्रीशक्ति, भूशक्ति, लीलाशक्ति। इन तीनों के दो २ रूप हैं, दैवी और आसुरी, तिसमें भूशक्ति के आसुरी सम्प्रदायवाले कुछ लोग तो पराए मांस से तुष्ट होते हैं, पर भूशक्ति का दैवी अंश उन दुश्चरित्रों तथा-तद्गुण विशिष्ट जीवों के रक्तस्रावन से सन्तुष्ट होता है जो संसार के लिए अनिष्ट कारक हों। अथवा सत्पुरुषों के उस रक्त मांस से सन्तुष्ट होती है जो जगहितैषिता की चिन्ताग्नि में धीरे धीरे वा कभी २ एकबारगी स्वाहा होता है। सो भगवती भारतधरित्री ने हाल में उपर्युक्त तीन बलि ली हैं। निश्चय है कि यह विशुद्ध रक्त उनको साधारणतया न पच जायगा। अवश्यमेव कुछ अच्छा रंग दिखावेंगी। पर भारत-सन्तान को भी योग्य है कि इस बलि पर विश्वास लावें कि इन पुरुषरत्नों ने हमारे लिए प्राण दिए हैं, हम भी यदि कृतघ्नता के पाप से बचा चाहें, और अपना एवं अपने वंश का भला चाहें तो अंतःकरण से इनके महान् उपकार के कृतज्ञ होके यथासामर्थ्य इनका अनुकरण करें। जिसमें इनके नाम की महिमा हो, और कुछ लोग और भी आत्मबलि के लिए प्रस्तुत हों।

भारत पर भगवान की अधिक ममता है।

यद्यपि उनका नाम जगदीश्वर है। वे अकेले एक देश या एक जाति के ही ईश्वर नहीं हैं। सकल सृष्टि पर उनकी कृपा-दृष्टि आवश्यक है। एक बार वे सभी को पूर्णोन्नति न दें तो पक्षपाती कहावें। इतिहासवेत्ताओं को यह बात प्रत्यक्ष है कि एक दिन भूमण्डल भरे में आर्यों की जयध्वजा उड़ती थी। एक समय यवनों की फतह का नक्कारा बजा। आज अंगरेजों की तूती बोलती है। संसार की यही रीति है कि एक की आज उन्नति है, कल अवनति, परसों और की बढ़ती है। इसी से यह सिद्धान्त हो गया है कि ईश्वर सब की सुध लेता है। पर हमारे प्रेमशास्त्र और प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुकूल इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि कोई कैसा ही क्यों न हो, यदि हम उससे सच्ची प्रीति करेंगे तो वह भी हमारा हो जायगा। इस न्याय से विचार देखिए तो हमारे देश को जितना परमात्मा के साथ सम्बन्ध सदा से है, औरों को कभी न रहा है, न है, न होने की आशा है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः' "सब तज हरि भज" इत्यादि वाक्यों का तत्व समझना तो दूर रहा, ऐसे महामान्य वचन ही अन्य देशीय धर्म-ग्रंथ में कठिनता से मिलेंगे। इसी भरोसे पर हम यह दावा कर सकते हैं कि हम ईश्वर से अधिक मेल रखते हैं, और इसीसे ईश्वर भी हमसे अधिक ममत्व रखता है। इसका प्रमाण भी हमें लेने नहीं जाना, हम सिद्ध कर देंगे कि जितने काल जितनी श्रेणी तक सर्वभाव से आर्य देश की उन्नति रह चुकी है, वैसी अभी तक किसी ने सुनी भी

न होगी। आजकल अवनति है सही, पर ऐसी अवनति भी नहीं है, जैसी इतरों की किसी समय थी। और परमेश्वर ने चाहा, एव धीरे २ ऐसे ही उद्योग होते रहे जैसे गत बीस पचीस वर्ष से देखने सुनने में आते हैं तो आशा होती है कि इन दिनों की सी दुर्दशा भी हजार दो हजार वर्ष तक न रहेगी। सब से अधिक राम की दया का चिह्न यह है कि इन गिरे दिनों में, जबकि हमारे गुण भी प्राय. दुर्गुण से हो रहे हैं, अब भी सहनशीलता, सरलता, धर्मदृढता, सच्छता, यश प्रियता, सूक्ष्म विचार आदि कई एक बातें, जो विचारशीलों ने माननीय मानी हैं, उनमें हम अनेक देशों से चढे बढ़े हैं।

अभाव हमारे यहां आज भी किसी बात का नहीं है। जो बात अच्छी तरह समझा दी जाती है उसके माननेवाले मिली रहते हैं। हां, अपनी ओर से लाभकारक बात सर्वसाधारण को सूझती नहीं है। पर सुझाने के साथ ही बस विषय में हम औरों से बढ़ नहीं जाते तो बराबर तौ भी हो जाते हैं। क्या यह लक्षण भले नहीं हैं? इसे जाने दो, यहां की जल-वायु और पृथ्वी भी ऐसी है कि सब हालत में गुज़ारा चल सकता है। हां, संसारचक्र के "पतनात समुच्छ्रय." के नियमानुसार यह बात अवश्य होनी है कि रहंट का ऊपरवाला खटोला जब तक नीचे न हो जाय तबतक ऊपर फिर नहीं चढ़ता। इस न्याय से कुछ दिन अधःपतन योग्य था। पर प्यारा लड़का कोई अपराध करे तो भी दयालु पिता अधिक काल तक उसे कष्ट में न देख सकेगा। वह दिन अब बहुत दूर नहीं है कि हमारी दुरवस्था पूर्ण रीति से दूर हो जाय। विश्वास के साथ देशहित में लगे रहना हमारा काम है। सब बातें जाती सी रही हैं, तौ भी यदि हम अपनी

निजता को न जाने दें तो हमारे दिन फिरने में शंका नहीं है। क्योंकि संसार का नियामक जो है उसके साथ हमारा अधिक अपनपौ है। यदि ईश्वर कोई जाग्रत एवं चैतन्य गुणवाले का नाम है तो हमारे पूर्वज ऋषियों का नाता सर्वथा भुला दे, यह सम्भव नहीं, और यह भी असम्भव है कि हमारे साढ़े तीन हाथ के पुतले में उनका कुछ भी अंश न हो। हां, हम अपने ही को भूल जायँ तो और बात है। नहीं तो यह बात अधिक प्रमाणीभूत है कि हमारी उन्नति औरों की उन्नति से अधिक थी, और अधिक काल तक रही है। हमारी अवनति औरों की अवनति से न्यून है और उतने दिन रहना विचार से दूर है, जितने दिन औरों की रही है। क्योंकि इस बात में सन्देह नहीं है कि ईश्वर से हमको और हमसे ईश्वर को औरों से अधिक अपनायत है। यदि यह बात युक्ति और प्रमाणों से न भी सिद्ध हो सके (यह केवल अनुमान कर लो) तौ भी यदि हम आस्तिक हैं तो हमें विश्वास कर्तव्य है कि—

मोपर करहिं सनेह विशेषी, मैं करि प्रीति परीक्षा देखी।

उर्दू बीबी की पूंजी।

यदि आप किसी साधारण वेश्या के घर पर कभी गए होंगे अथवा किसी जानेवाले से बातचीत की होगी तो आपको भली भांति ज्ञात होगा कि यद्यपि कभी कभी विद्वान्, धनवान, और प्रतिष्ठावान् लोग भी उसके यहां जा रहते हैं, और जो जाता है वह कुछ देही के आता है। एवं उन्हें बाहर से देखिये तो तेल, फुलेल, हार, पान, हुक्का, पीकदान, मच्चा, या झूठा गहना, एवं देखने में सुन्दर कपड़े से सुसज्जित हैं, कमरा भी दो एक चित्र तथा गद्दी-तकिया आदि से सजा हुआ है, उनकी बोली-बानी, हाव-भाव भी एक प्रकार की चित्तोल्लासिनी सभ्यता से भरी है, दस पांच गीत गजल भी जानती हैं। पर उनकी असली पूंजी देखिये तो दो चार रंगीन गाटे पट्टे के कपड़े तथा दोही चार सच्चे झूठे गहने अथच एक या दो पलंग और पीतल, टीन, मट्टी आदि की गुड़गुड़ी उड़गुड़ी समेत दस पांच बरतन के सिवा और कुछ नहीं है। रुपया शायद सब असबाब मिला के सौ के घर घाट निकलें, चाहे न भी निकलें। गुण उनमें केवल हाथ मटका-के कुछ गानामात्र, विद्या अशुद्ध फशुद्ध दसही बारह हिन्दी उरदू के गीतमात्र। एव मिष्टभाषण केवल इतना जिससे आप कुछ दे आवें। बस, इसके सिवा और अज्ञानियां का नामही है।

उनके प्रेमी, या यों कहिए, अपनी बुरी आदत के गुलाम, उन को चाहे जैसा लक्ष्मी, सरस्वती, रंभा तिलोत्तमा, लैली, शीरीं, समझते हों, पर वास्तव में उनके पास पूरी जमा जथा उतनी ही मात्र होगी जितनी हम कह चुके, वरंच उससे भी न्यून ही होगी। कभी २ वे कह देती हैं कि हम फ़कीर हैं, या हम

आपके भिक्षुक हैं, यह बात उनकी शिष्टता से नहीं, वरन् सच ही है। क्योंकि सब से लेता हैं तो भी कुछ जुड नहीं सकता। यदि पन्द्रह बीस दिन कोई न जाय तो उन्हें वह नगर छोड़देना पड़े, जहां वे कई वर्ष रही हैं।

प्रिय पाठक ! ठीक वही हाल उरदूजान का भी है। यद्यपि कुछ २ संस्कृत, अङ्गरेजी, अरबी को भी सहाय है, और उसके चाहनेवाले उसे सारे जगत् की भाषाओं से उत्तम माने बैठे हैं, पर इनकी वास्तविक पूंजी यदि विचार के देखिए तो आशिक अर्थात् किसी का चाहनेवाला, माशूक अर्थात् कोई रूपवान् व्यक्ति जिसे आशिक चाहता हो, बाग़ अर्थात् वाटिका, गुल अर्थात् फूल, बुलबुल अर्थात् एक अच्छी बोली बोलनेवाला और फूलों में प्रसन्न रहने वाला पक्षी, बागवान अर्थात् माली, सैयाद अर्थात् चिड़ीमार, खिलवत अर्थात् एकान्त स्थान, जिलवत या मजलिस कई एक सुन्दर व्यक्तियों का समाज, शराब अर्थात् मदिरा, कबाब अर्थात मांस, साकी अर्थात् मद्य पिलानेवाला, मुतरिब अर्थात् गवैया, रकीब—दुश्मन गैर अर्थात् जिसे तुम चाहते हो उसका दूसरा चाहनेवाला, नासिह अर्थात् मद्य और वेश्यादि के संसर्ग से रोकनेवाला, वायज अर्थात् उपदेशक, आस्मान अर्थात भाग्यवश, इतनी ही बातें हैं जिन्हें उलट फेर के वर्णन किया करो, आप बड़े अच्छे उरदूदां हो जायगे।

माशूक के रूप, मुख, नेत्र, केशादि की प्रशंसा, अपनी सर्वज्ञता का घमंड, उसे गुल और शमअ अर्थात् मोमबत्ती एवं अपने को बुलबुल और पर्वाना अर्थात् पतंग से उपमा

दे दिया करो, रकीब इत्यादि पर जल २ के गाली दिया करो, बस उरदू का सर्वस्व आपको मिल जायगा।

चाहे गद्य हो, चाहे पद्य हो, चाहे कविता हो, चाहे नाटक हो, चाहे अखबार हो, चाहे उपदेश हो, सब में यही बातें भरी हैं। यदि और कोई विद्या का विषय लिखना हो तो संस्कृत, बंगला, नागरी, अरबी, फारसी, अंगरेजी की शरण लीजिए। इन बीबी के यहा अधिक गुंजायश नहीं है। और लिखना तो दरकिनार मुख्य २ शब्द ही लिखके किसी मौलवी से पढ़ा लीजिए, अरे क्या मजा ही न आवेगा! हमारे एक मित्र का यह वाक्य कितना सच्चा है कि और सब विद्या हैं यह अविद्या है। जन्म भर पढ़ा कीजिए, तेली के बैल की तरह एक ही जगह घूमते रहोगे! सत्य विद्या के बतलाइए तौ कै ग्रन्थ हैं? हाय न जाने देश का दुर्भाग्य कब मिटेगा कि राजा प्रजा दोनों इस मुलम्मे को फेंक के सच्चे सोने को पहिचानेंगे! जानते सब हैं कि पूंजी इतनी मात्र है, पर प्रजा का अभाग्य, राजा की रीझ-बूझ। और क्या कहा जाय।

कलिकोष ।

कचहरी—कच माने बाल और हरी मानी हरण करनेवाली, अर्थात् मुडन (उलटे छूरे से मूडनेवाली) जहा गये मुडाये सिद्ध।

दर्बार—दर्ब द्रव्य का अपभ्रंश और अरि अर्थात शत्रु, जैसे सुरारि मुरारि इत्यादि। भाषा में अन्तवाली ह्रस्व इ की मात्रा बहुधा लोप हो जाती है।

अदालत—अदा अर्थात् छवि, उसकी लत। पोशाकें चमका २ के जा बैठनेवालों का स्थान। अथवा होगा तो वही जो भाग में है, पर अपनी दौडने धूपने की लत अदा कर लो। अथवा अदा बना के जाओ, लातें खा के आओ इत्यादि।

हाकिम—दुःखी कहता है हा! (हाय) तो हुजूर कहते हैं किम् अर्थात् क्या है वे? अथवा क्यों बकता है!

वकील—व कील, जो सदा कलेजे में खटके, अथवा बग भाषा में 'वो की' क्या है, अर्थात् वह तुम्हारे पास क्या हैं, लावो।

मुख्तार—जिसके मुख से तार निकले, अर्थात् मकडी (जाल फैलानेवाला) अथवा मुक्त्यारि (मुक्ति का अरि जो फंदे में आवै सो छूटने न पावे।)

मुअक्किल—मुआ अर्थात् मरा किल इति निश्चयेन (जरूर मरो।)

मुद्दई—ग्राम्य भाषा में शत्रु को कहते हैं, (हमार मुद्दई आहिउ लरिका थोरे आहिव।)

मुद्दालेह—मुद (आनन्द) आ! आ! ले दोत! अर्थात् आव आव मज़ा ले अपने कर्मों का।

इजलास—अंगरेजी शब्द है, इज is (है) Lass (हानि) अर्थात् जहां जाने से अवश्य हानि है, अथवा ई माने यह, जलासा अर्थात् कोयला सा काला आदमी। अथवा फ़ारसी तो शब्द ही है, ज़ेर के बदले जबर अर्थात् अजल (मौत) की आस (आशा) अथवा विना जल (पानी) के आस लगाए खड़े रहो।

चपरासी—लेने के लिए चपरा के समान चिपकती हुई बातें करनेवाला न देनेवालों से चप (चप) रासी का अर्थ फारसी में हुआ, 'नेवला है तू'—अर्थात् 'चुप रह, नेवला की तरह तू क्या ताकता है।' कहनेवाला। अथवा फ़ारसी में चप के माने बाया अर्थात् अरिष्ट के हैं (विधि बाम इत्यादि रामायण में कई ठौर आया है,) अर्थात् तू बाम नेवला है, क्योंकि कोल डालता है।

अरदली—अरिवत् दलतीति भाव।

स्त्री—(शुद्ध शब्द इसस्तरी) अग्नितप्त लोह के समान गुण जिसमें। (धोबी का एक औजार)

मेहरिया—जिसकी आखों में मेह (बात २ पर रोना) और हृदय में रिया (फारसी में कपट को रिया कहते हैं) का वास हो।

लोगाई—जिसमें नौ गौओं की सी पशुता हो। बंगाली लोग बहुधा नकार के बदले लकार और लकार के बदले नकार बोलते हैं, जैसे नुकसान को लोकसान, निर्लज्ज को निरनज्ज।

जोरू—जो रूठना खूब जानती हो।

पुरुष—पुरु कहते हैं जेठ में खेतु सींचा जाये, और 'ष' आकाश (संस्कृत में।) अर्थात् शून्य। भावार्थ यह हुआ

कि एक पानी भरी खाल, जिसके भीतर अर्थात् हृदय में कुछ न हो। 'मूर्खस्य हृदय शून्य' लिखा भी है।

मनसवा—मन अर्थात् दिल और शव अर्थात् मुरदा (आकारान्त होने से स्त्रीलिंग हो गया) भाव यह कि स्त्री के समान अकर्मण्य, मुर्दा दिल, बेहिम्मत।

मर्द—मरदन किया हुआ, जैसे लतमर्द।

खसम—अरबी में खिस्म शत्रु को कहते हैं।

सन्तान—जो सन्त अर्थात् बाबा लम्पटदास की आन से जन्मे।

बालक—बा सरयूपारी भाषा में 'है' को कहते हैं। जैसे ऐसन बा अर्थात् ऐसा ही है, और लक निरर्थक शब्द है। भाव यह कि होना न होना बराबर है।

लडका—जो पिता से तो सदा कहे लड, अर्थात् लड ले और स्त्री से कहे, का (क्या आज्ञा है?)

छोरा—कुलधर्म छोड देनेवाला (रकार डकार का बदला)

पुत्र—पु माने नर्क (संस्कृत) और त्र माने तुझे, (फारसी, जैसे जवाबत् चिदिहम—तुझे उत्तर क्या दूं।) और रा दाने धातु है, अर्थात् तुझे नर्क देनेवाला।

ककाराष्टक।

ज्योतिष जाननेवाले जानते हैं कि होडाचक्र के अनुसा एक अक्षर पर जितने नाम होंगे उनका जन्म एक नक्षत्र के प ही चरण का होगा, और लक्षण भी एक ही सा होगा। व्यव हार-सम्बन्धी विचार में ऐसे नामों के लिए ज्योतिषियों क बहुत नहीं विचारना पडता। बिना विचारे कह सकते हैं कि एक राशि, एक नक्षत्र, एक चरण के लोग मिल के जो का करेंगे वह सिद्ध होगा। लोक में भी नाम राशी का अधि सम्बन्ध प्रसिद्ध है। इसी विचार पर सतयुग में सत्य, सज्ज नता, सद्धर्मादि का बडा गौरव था। हमारे पाठक जानते हों कि श्री महाराजाधिराज कलियुग जी देव (फारसी में भी तो बडे छुटे बडे नीतिनिपुण हैं। वे काहे को चूकते हैं। जब द्वापर के अंत में इस देश की ओर आने लगे तो अपना नाम राशी नगर समझ के इस कानपुर को अपनी राजधानी बनाया और बहुत से ककार ही नाम वाले मुसाहब बनाए। जिन से छ सभासद हम पर बडी कृपा करते हैं। अतः हम सोचा कि अपने इस दयालु जजमानों की स्तुति न करन कृतघ्नता है। छ मुसाहब, एक महाराज, एक उनकी राजधान की स्तुति में अष्टक बना डालें तो संसारी जीव धर्म कर्मा से शीघ्र मुक्ति पा सकेंगे। हमारे छ. देवता या कलिरा के मुख्य सहायक यह हैं,—एक कनौजिया यद्यपि कान्यकुब्ज मडली इत्यादि कारवाइयां उन्हों ने महाराज की मरजी खिलाफ की हैं, पर महाराज तो बडे गंभीर हैं, वे बहुत ना नाराज हुए हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि इनकी पैदाइश विरा भगवान के मुख से है, और कुछ ऐसा स्वाद है जहां थू

भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेगा वह कहाँ तक, धुकैलपना न करेगा। दूसरे कायस्थ हैं, इन पर भी कायस्थ-सभा, कायस्थ पाठशाला का इलजाम लग सकता है, और जो लोग वैष्णव हो जाते हैं, इस नें कलियुग जो नाराज हो जाय तो अजब नहीं। पर चूंकि कलियुगराज की माशूका बी उरदूजान की सिफारिश है, इससे कोई डर नहीं रहा। तीसरे मुसाहिब कलवार हैं, इनमें वेशक यही लोग हुजूर के कृपापात्र हैं, जो कलवरिया के कार्य्याध्यक्ष हैं। चौथे कहार, पाचवें कसाई, छठे कसबी यह वेशक वेठेंग हैं। इन छहों मुसाहिबों में इतना मेल है कि एक दूसरे के मानों अंग प्रत्यंग हैं। एक के विना दूसरा निर्वल है, और उन्हीं के एका का फल है कि कलिदेव राज करते हैं। यह परिचयस्तोत्र पाठकों की श्रद्धा बढाने मात्र को दिया है।

पड़ें पत्थर समझ पर आपकी समझे तो क्या समझे।

अक्तूबर में जो हमने "फतेहगढ पंच" को शिक्षा दी थी, हमने समझा था कि कुछ आंखें खुल जायंगी। नागरी देवी और उरदू बीबी का भेद कुछ तो समझ जायंगे, पर तब से दो मास तक आप मुंह छिपाने पीछे आज पहिली जनवरी को "उपदेशोहि मूर्खाणा प्रकोपाय न शांतये" का उदाहरण बन के आये हैं, तो कहते क्या हैं कि "कोई उरदू को क्या समझेगा जैसा हम समझते हैं"। क्यों नहीं साहब, तभी तो रसोईपज का शब्द गढा है! हजरत रसोई हिन्दी का शब्द है, इसके साथ पकाने वाला कहते तो युक्त था, नहीं तो 'तुआमपज' कहना योग्य है। 'रसोईपज' यह दोगली भाषा है। इसी से तो आपकी उरदू में खलल मालूम होता है। खैर हमने आपकी ख़ातिर से मान लिया कि आप उरदू जानते हैं फिर इससे क्या, उरदू स्वय कोई भाषा नहीं। अन्य भाषाओं का, विशेषत हमारी हिन्दी का, करकट है। विचारे उसके जाननेवाले हम नागरी रसिकों का सामना क्या खाके करेंगे। हां, जीभ हिलाना यह और बात है। यद्यपि विजातीय मसखरों के मुह लगना अखिलार्य नरेन्द्र-पूजित पादपीठ महात्मा 'ब्राह्मण' को शोभा नहीं देता, पर व्यर्थवादियों का दर्पदलन न करें तौ भी तो अच्छा नहीं। अत. जब तक योग्य समझेंगे, लेखनी चलाये जायगे।

पंचजी! हिन्दी का गौरव समझना और उसके भक्तों से शास्त्रार्थ करना आपही की सी बुद्धिवालों का काम नहीं है।

पहिले उरदू ही भली भांति सीखिये, फिर किसी नागरी नागर की सेवा कीजिये, तब देखा जायगा। अभी तो जान पड़ता है कि आप इस देश ही में नए आये हैं। अथवा दिल्ली में रहे, पर भाड़ झोंकते रहे। नहीं तो जिस 'ब्राह्मण' को यहां मूर्ख से मूर्ख और विद्वान् से विद्वान् जगत-गुरु देवता और महाराज इत्यादि कहता और पूजता है उसे आपने केवल रसोईपद समझा है। फिर उसके गुण और उसका शयन-लालित्य क्या धूल समझेंगे, और बिना समझे किसी बात में कानपूंछ हिलाना निरा झख मारना है। ऐसी समझ पर तम्प्रुफ्ज फरमाइगा तो अपने मन में ही मन में चाहे जो फूल उठिये, पर बुद्धिमान लोग जान जायगे कि कौन कितना है, बस मुर्तजा का शब्द नागरी में लिखा जा सकता है, परन्तु गणित, ब्राह्मण और मन्त्रादि शब्द लिखने में उरदू वाले ऐसे अक्षम हैं जैसे सन्तानोत्पत्ति में   और आत्म विद्या में यवन। इस विषय को हम यथोचित रीति से सिद्ध कर चुके हैं, पर 'पत्रंनैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किं?' मिया न समझें तो हम कहां तक 'अन्धे के आगे रोवें अपने दीदे खोवें'। बेहयाई हो तो इतनी हो कि उत्तरदाता की बात न समझने पर भी अपनी ही जीत मान लें। ऊपर से दूसरी बुद्धिमत्ता यह दिखाई है कि 'नागरी में सनअत तजनी नहीं होती', अर्थात् नतीजा में नैचा, चूना में जूता, आलुबुखारा में उल्लू बिचारा, इत्यादि का धोखा नहीं होता! हजरत! यह उरदू का दोष है, आपही इसे सनअत समझिये। किष्किंधा की बंदरियों ने श्रीसीताजी के सौन्दर्य में इतना दोष निकाला था कि उनके दुम नहीं है! यही लेखा एडिटर करता है!

हम लोग इसीलिए सरकार से प्रार्थी हैं कि यह फ़रेबी

अधर कचहरी से उठ जायं तो प्रजा का अरिष्ट दूर हो। ऐसे बुद्धि शत्रुओं से शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है जो कल को कहेंगे, नागरी-कविता में उरदू की भांति स्वाभाविक दुष्कर्मों का वर्णन नहीं होता। आगे से हमारे पाठक क्षमा करें। हम ऐसे प्रमादियों का उत्तर यदि कोई विचारणीय विषय न होगा तो बहुत कम देंगे। जो मूर्ख उरदू को प्रशंसा और वेद से लेके आल्हा तक को आधार सर्वगुणागरी नागरी देवी की निन्दा को केवल निज का विषय समझता हो, और अनर्थक हाहा ठीठी में देश सेवा गिनता हो, उसकी बकवाद पर ध्यान देना निष्फल है।

मुक्ति के भागी।

एक तो छ. घर के कनवजिये, क्योंकि वैराग्य इनमें परले सिरे का होता है। सब जानते हैं कि स्त्री का नाम अर्द्धाङ्गी है। बेपढे लिखे लोग तक आपस में पूछते हैं "कहो घर का क्या हाल है?" इससे सिद्ध हुआ कि घर स्त्री ही का नामांतर है। उस स्त्री को यह महातुच्छ समझते हैं। यहां तक कि 'हैं मेहरिया तो आय पायें कै पनहीं', वरंच पनहीं के खो जाने से तो रुपया धेली का सोच भी होता है, परन्तु स्त्री का बहुतेरे मरना मनाते हैं। अब कहिये, जिन्होंने अपने आधे शरीर एवं ग्रह देवता को भी तृणवत् समझा उस परम त्यागी वैरागी की मुक्ति क्यों न होगी?

दूसरे अढतिए, क्योंकि प्रेतत्व जीते ही जी भुगत लेते हैं। न मानो कानपुर आके देख लो, बाजे बाजों को आधी रात तक दतून करने की नौबत नहीं पहुंचती। दिन रात बेपारियों की हाय २ में यह भी नहीं जानते कि सूरज कहां निकलता है। भला जिसे जगत् गति व्यापती ही नहीं, जिसे क्षुधा तृषा लगती ही नहीं है, उस जितेंद्री महापुरुष को मुक्ति न होगी, तो किसे होगी?

तीसरे उपदंश रोगवाले, क्योंकि बड़े २ वैद्यों ने सिद्ध किया है कि इस रोग से हड्डियों तक में छिद्र हो जाते हैं तो कपाल में भी हड्डी ही है, शरीर को भीतर ही भीतर फूंक देती है। अब समझने की बात है कि जिसके प्राण ब्रह्माण्ड (शिर) फोड़ के निकलें तथा पचाग्नि की परदादी प्रति रोमाग्नि का सेवन करे वह परम योगी शरभंग ऋषि के समान तपस्वी क्यों न मोक्ष पावेगा?

हमारे पाठक कहते होंगे, कहां की खुराफात बकते हैं। खैर, सो अब सांची २ सुना चले।

स्वर्ग, नर्क, मुक्ति कहीं कुछ चीज नहीं है। बुद्धिमानों ने बुराई से बचने के लिए एक हौवा बना दिया है, उसीका नाम नर्क है, और स्वर्ग वा मुक्ति भलाई की तरफ झुकाने के लिए एक तरह की चाट है। अथवा जो यह मान लो कि जिसमें महादुःख की सामग्री हो वह नर्क और परम सुख स्वर्ग है तो सुनिए, नर्की जीव हम गिना चुके, उन्हीं के भाई बंद और भी हैं। रहे स्वर्ग के सच्चे पात्र, वह यह हैं—किसी हिन्दी-समाचारपत्र के सहायक, बशर्तेकि वार्षिक मूल्य में घुकुर पुकुर न करते हों, और पढ़ भी लेते हों, उनको जीते ही जी स्वर्ग न हो तो हम जिम्मेदार। दूसरे देशोपकारी कामों में एक पैसा तथा एक मिनट भी लगावेंगे वे निस्सन्देह वैकुंठ पावेंगे, इसमें पाव रत्ती का फरक न पड़ेगा। हमसे तथा बड़े २ विद्वानों से तांबे के पत्र पर लिखा लीजिए। तीसरे गोरक्षा के लिए तन, मन, धन से उद्योग करनेवाले। अन्न, धन, दूध, पूत सब कुछ न पावें, तथा शरीर मोक्ष का मजा न उठावें तो वेद, शास्त्र, पुराण और हम सबको झूठा समझ लेना, चौथे परमेश्वर के प्रेमानन्द में मस्त रहने वाले तथा भारत भूमि को सच्चे चित्त से प्यार करनेवाले एक ऐसा अलौकिक अपरिमित एवं अकथ आनन्द लूटेंगे कि उसके आगे भुक्ति और मुक्ति तृण से भी तुच्छ हैं। हमारे इस वचन को 'ब्रह्मवाक्य सदा सत्यम्' न समझेगा वह सब नास्तिकों का गुरू है।